इकाई - 5

रत्नावली - सामान्य परिचय

इकाई की रुपरेखा

5.0 उद्देश्य

मानवस्वभाव का अध्ययन। विभिन्न परिस्थितियों का ज्ञान। दृश्य-काव्य का स्वस्थ मनोरंजन।

5.1 प्रस्तावना

संस्कृत साहित्य में नाटकों का महनीय स्थान है। समय-समय पर संस्कृत कवियों ने अपनी वरद लेखिनी से नाटक साहित्य की संरचना कर जगत को स्वस्थ मनोरंजन के साथ-साथ विभिन्न जीवन-दर्शनों का ज्ञान प्रदान किया है। रत्नावली नाटिका श्री हर्षदेव द्वारा विरचित उत्कृष्ट प्रणयात्मिका नाटिका है। प्रस्तुत इकाई में हम श्री हर्षदेव के ऐतिहासिक परिचय रत्नावली की कथावस्तु तथा कथावस्तु के प्रमुख स्रोत का विश्लेषणात्मक अध्ययन करेंगे। इसके साथ ही नाट्यशास्त्रीय दृष्टिकोण से रत्नावली नाटिका का मूल्यांकन करते हुए हर्ष की भाषाशैली पर प्रकाश डालते हुए नाट्यशैली का विश्लेषण करेंगे। यहाँ रत्नावली के नायक उदयन तथा रत्नावली का चरित्र-चित्रण का विधिवत् अनुशीलन करेंगें।

5.2 हर्ष का राज्य एवं उनका जीवन-परिचय

नाटक संस्कृत साहित्य का एक गौरवमय अंग है। नाटकों ने इस साहितय को वह महत्त्व प्रदान किया है जिससे इसकी कीर्तिकौमुदी संसार भर में चमकने लगी है। इससे भारतीय साहित्य के सौन्दर्य को, कोमल कल्पना को तथा मनोहर रस परिपाक को एक नई अभिव्यक्ति मिली है। श्रव्यकाव्य की अपेक्षा नाटक की प्रतिष्ठा प्रारम्भ से ही अधिक रही है। नाटक का उद्देश्य अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। आचार्य भरत ने नाट्य को सार्ववर्णित वेद कहा है। अत: प्रत्येक व्यक्ति नाटक क आनन्द का अधिकारी माना जाता है।

दृश्यकाव्य के लिए रूपक शब्द का व्यवहार करना अधिक उचित है। रूपक दस प्रकार के होते हैं। जिसका महत्त्वपूर्ण प्रकार नाटक माना जाता है। नाटक के अतिरिक्त रूपक के नौ भेद इस प्रकार हैं–1. प्रकरण, 2. भाण, 3. प्रहसन, 4. डिम, 5. व्यायोग, 6. समवकार, 7. वीथि, 8. अंक, 9. ईहामृग।

हर्ष से पूर्ववर्ती शताब्दियों में उत्तरी भारत की राजनैतिक स्थिति – स्थाण्वीश्वर (थानेश्वर) के सम्राट् हर्ष या हर्षदेव या हर्षवर्धन से पूर्ववर्ती कुछ शताब्दियों का इतिहास उत्तरी भारत में उथल-पुथल एवं राजनैतिक एकता स्थापित करने के प्रयत्न का इतिहास है। उत्तरी भारत में ईसा पूर्व 322 में मौर्य साम्राज्य की स्थापना से लेकर हर्ष के समय के बीच में अनेक महत्त्वाकांक्षी राजाओं का यह प्रयत्न रहा था कि उत्तरी भारत में एक बड़े साम्राज्य की स्थापना करके राजनैतिक एकता स्थापित की जाय।

इन प्रयत्नों में चन्द्रगुप्त और उसके पौत्र अशोक के प्रथम सफल प्रयत्न थे। लेकिन उत्तर-पश्चिमी सीमा से होने वाले निरन्तर आक्रमणों ने इन साम्राज्यों को चिरस्थायी न रहने दिया। मौर्य-साम्राज्य के पतन के बाद से लगभग 320 ई. में गुप्त साम्राज्य की स्थापना के मध्यवर्ती काल में भारत की उत्तर-पश्चिमी सीमा पर अनेक छोटे-छोटे राज्यों की स्थापना हुई और अनेक राज्य छिन्न-भिन्न हुए। इनमें इण्डो-यूनानी और इण्डो-पर्थियन राजाओं का युग उल्लेखनीय रहा जिनका पतन कुशाल आक्रमणों के कारण हुआ। कुशान काल में ईसा की प्रथम शताब्दी में कनिष्क उल्लेखनीय राजा हुआ जिसका साम्राज्य मथुरा तक फैला हुआ था।

कनिष्क के पश्चात् गुप्त-साम्राज्य को स्थापना के मध्य लगभग 2 शताब्दियों का समय उत्तरी भारत के इतिहास में अध्ययन के विशिष्ट क्षेत्र में आता है। लगभग 320 ई. में उत्तरी भारत में शासन-सत्ता गुप्त-वंश के हाथ में आई, जो लगभग एक शताब्दी तक उनके हाथों में रही।

गुप्त-साम्राज्य-काल सच्चे अर्थ में भारत का पुनरभ्युदय का काल हुआ। इसे भारत के इतिहास में स्वर्णयुग कहा जा सकता था। इसी काल में साहित्य-आकाश के उज्ज्वलतम नक्षत्र कवि कालिदास का आविर्भाव हुआ। लेकिन 455 ई. के लगभग हूणों के आक्रमण के फलस्वरूप गुप्त-साम्राज्य का भी पतन हो गया और उसके पश्चात् का उत्तरी भारत का इतिहास हूणों के सङ्घर्ष और अस्थिरता का इतिहास है जब तक कि छठी शताब्दी के अन्त के आस-पास उन्हें भारत से वापिस न भगा दिया गया। म्लेच्छों को मार भगाने के कार्य को पूर्ण करने में अन्तिम सफल पराक्रम हर्ष के पिता प्रभाकरवर्धन और उसके बड़े भाई राज्यवर्धन ने दिखलाया।

हर्ष के पिता प्रभाकरवर्धन का राज्य-काल (584 ई.-605 ई.)–

–हर्ष की धमनियों में पीढ़ियों का राजवंश का रक्त था। उसकी दासी गुप्त-वंश की राजकुमारी थी। उसका पिता प्रभाकरवर्धन, जिसका शासनकाल सम्भवत: 584 ई. से 605 ई. तक रहा, महत्त्वाकांक्षी राजा था। उसने छठी शताब्दी के पिछले भाग में स्थाण्वीश्वर (थानेश्वर या थानेसर) को अपने अधीन कर लिया और पश्चिम तथा उत्तर-पश्चिम के पड़ौसी राजाओं के विरुद्ध अनेक युद्धों के पश्चात् विच्छिन्न गुप्त-साम्राज्य के खण्डहरों पर एक नये साम्राज्य की नींव डालने में सफलता प्राप्त कर ली। प्रभाकरवर्धन ने अपने बड़े पुत्र राज्यवर्धन को पश्चिमोत्तर सीमा पर हूणों की अवशिष्ट सत्ता को उच्छिन्न करने के लिये भेजकर अपने जीवन का अन्तिम साहसिक कार्य किया था, जबकि 605 ई. में ज्वर से अकाल मृत्यु हो गई।

हर्ष के ज्येष्ठ भाई राज्यवर्धन का राज्यकाल (605 ई.-606 ई.)–

प्रभाकरवर्धन की मृत्यु के पश्चात् राज्यवर्धन अपने पिता के राजसिंहासन पर बैठा। वह उस समय लगभग 18, 19 वष का था। राजसिंहासन पर बैठते ही राज्यवर्धन को मालवा के राजा से प्रतिशोध लेने

के लिये अभियान करना पड़ा, क्योंकि मालवा के राजा ने उसके बहनोई को मार डाला था और उसकी बहिन राज्यश्री को कन्नौज में कारागार में डाल दिया था। राज्यवर्धन ने मालवा के राजा से प्रतिशोध तो ले लिया, परन्तु मालवा नरेश के मित्र, बंगदेश के राजा शशाङ्क ने धोखे से अपने घर में उसकी हत्या कर दी। राजकुमारी राज्यश्री ने किसी प्रकार कन्नौज से बच निकल कर विन्ध्यावटी में शरण ली। इस प्रकार राज्यवर्धन का आशाओं से भरा जीवन स्वल्प काल म ही समाप्त हो गया।

हर्ष का राजसिंहासनारोहण (606 ई.)–

राज्यवर्धन की अचानक मृत्यु और राज्यश्री के लुप्त हो जाने पर केवल हर्ष ही राजसिंहासन का कानूनी अधिकार रह गया। वह उस समय केवल 16, 17 वर्ष का था। सामन्तों एवं सरदारों ने अक्टूबर 606 ई. में एकत्र होकर हर्ष को अपना राजा चुना। इस तिथि का भारतीय इतिहास में विशिष्ट स्थान है, क्योंकि 6 वर्ष पश्चात् 612 ई. में हर्ष ने इसी तिथि से अपने नाम से एक नये संवत्सर का प्रवर्तन किया था।

हर्ष के राज्य के प्रथम 6 वर्ष–

सामन्तों द्वारा राजा चुन लिये जाने पर भी हर्ष ने किन्हीं अज्ञात कारणों से राजा की उपाधि धारण नहीं की। वह केवल राजकुमार 'शीलादित्य' (सदाचार का सूर्य) के नाम से राज्य-व्यवहार चलाता रहा। हर्ष के सामने सबसे पहले कर्त्तव्य अपनी विधवा बहिन का उद्धार करना था। उसने चारों ओर भेदिये भेज दिये और अन्त में एक दिन जब राज्यश्री विन्ध्यावटी में अग्नि में प्रवेश करके आत्महत्या करने जा रही थी, तब दैव-योग से वह हर्ष को मिल गई और अन्त समय तक हर्ष के प्रति भक्त बनी रही। हर्ष के सम्बन्ध में बाण तथा ह्वेनसांग के वर्णनों से प्रतीत होता है कि जीवन के अन्तिम भाग में हर्ष के बौद्ध धर्म की ओर झुकाव में राज्यश्री का पर्याप्त हाथ था, जो स्वयं बौद्ध धर्म की बड़ी उपासिका थी। राज्यश्री के उद्धार के पश्चात् हर्ष के सामने दूसरा मुख्य कार्य अपने भाई के हत्यारे से प्रतिशोध लेना था। लेकिन इस विषय में कोई अधिक जानकारी उपलब्ध नहीं है। यह निश्चित है कि शशांक 619 ई. तक राज्य करता रहा, लेकिन कदाचित् बाद में उसका राज्य हर्ष के अधिकार में आ गया था। हर्ष ने शासन की बागडोर हाथ में संभालते ही उत्तरी भारत में अपना साम्राज्य स्थापित करने के लिये विजय-अभियान प्रारम्भ कर दिये थे। चीनी यात्री ह्वेनसांग के शब्दों में 'वह आज्ञा को शिरोधार्य न करने वालों का दमन करता हुआ पूर्व से पश्चिम तक गया, न उसके हाथियों की अम्बारी उतरी और न उसके सैनिकों के कवच।' उसकी विशाल और विजयी सेनाओं की सफलता के परिणामस्वरूप राज्यारोहण के 6 वर्ष की अवधि में ही हर्ष ने 612 ई. में 'महाराजाधिराज' की उपाधि धारण कर ली।

हर्ष के राज्यकाल के अन्य वर्ष–

हर्ष के शेष जीवन के 30 से भीअधिक वर्षों का मुख्य कार्य युद्ध, संगठन और व्यवस्था करना ही रहा। अब चक्रवर्ती सम्राटों के समान हर्ष के लिये भी यह आकांक्षा करना स्वाभाविक था कि वह दक्षिणी भारत को भी अपने अधीन कर ले। परन्तु अपने इस प्रयत्न में हर्ष को असफलता का मुख देखना पड़ा और हर्ष के सैनिक जीवन की केवल यही एक असफलता थी। उसे 620 ई. में चालुयवंशी पुलकेशिन द्वितीय से हार खानी पड़ी। लेकिन उत्तरापथ में केवल पञ्जाब को छोड़कर सारे भारत में उसका साम्राज्य फैला हुआ था। 18 राजा उसके अधीन और पश्चिम में वलभी (गुजरात) का राजा ध्रुवभट्ट (ध्रुवसेन) और सुदूर-पूर्व में कामरूप का अधिपति कुमार (भास्करवर्मा) अपनी इच्छा से उसके करद राजा हो गये थे। हर्ष का अन्तिम युद्ध-पराक्रम अपनी मृत्यु से चार वर्ष पहले 642-43 ई. में महानदी के दक्षिण में बंगाल की खाड़ी के तट पर स्थित गंजाम (कोंगोडा) प्रदेश को अपने अधीन करना था।

हर्ष के राज्य की कुछ अन्य घटनायें एवं विशेषतायें–

हर्ष केवल विजेता ही नहीं था, अपितु अच्छा शासन-प्रबन्धक भी था। उसने अपनी राजधानी थानेसर से हटाकर गंगा के तट पर स्थित कन्नौज (कान्यकुब्ज) में स्थापित की और लम्बे समय तक यह नगर राज्य-वैभव का केन्द्र बना रहा। इसने अपने सम्पूर्ण साम्राज्य में शिक्षा का प्रसार किया और अपनी राजसभा` अनेक विद्वानों और कवियों को आश्रय दिया। उसने केवल युद्ध-पराक्रम से ताम्रपत्रों अथवा शिलालेखों द्वारा ही अपनी कीर्ति को अमर नहीं किया बाण आदि कवियों की अमर कृतियाँ उसके धवल यश के शाश्वत स्मारक बने रहेंगे। हर्ष ने स्वयं युवावस्था में अच्छी शिक्षा पाई थी। एक दानपत्र में सुरक्षित उसके हस्तलेख के नमूने प्रमाणित होता है कि वह लेखनकला का अच्छा प्रवीण था। हर्ष ने केवल उच्चकोटि के कवियों को ही आश्रय नहीं दिया, अपितु वह स्वयं भी उत्तम कोटि का कवि था।

हर्ष भले ही अन्य मामलों में कठोर शासक रहा हो, लेकिन उसका राज्य धार्मिक सहिष्णुता के लिये विशेष उल्लेखनीय है। धार्मिक स्वतनत्रता उसे विरासत में मिली थी। उसका पिता तथा पूर्वज शिव और सूर्य की समान भाव से पूजा करते थे। उसका बड़ा भाई और बहिन बौद्ध धर्म के उपासक थे। हर्ष स्वयं शिव, सूर्य और बुद्ध का समान रूप से आदर करता था और अन्तिम वर्षों में उसका झुकाव विशेष रूप से बौद्ध धर्म की ओर हो गया था। हर्ष के बौद्ध धर्म की ओर झुकाव का पता चीनी यात्री ह्वेनसांग के भारत के वर्णनों से चलता है। ह्वेनसांग ने अपने भारत-वास के अन्तिम आठ वर्ष (635-643) का अधिक भाग हर्ष के राज्य में व्यतीत किया था। उसने अपने संस्मरणों में हर्ष-कालीन भारत का बड़ा विस्तृत एवं रोचक वर्णन दिया है।

हर्ष की मृत्यु–

643 ई. में गंजाम विजय के पश्चात् हर्ष ने अपनी तलवार ावपस म्यान में रख लीऔर अविश्रान्त सैनिक, व्यस्त सम्राट् अक्लान्त शासक और प्रजा-पालक राजा ने अन्त में शान्ति की कामना की। सम्भवत: हर्ष भी अशोक के समान, अपने जीवन के अन्तिम वर्षों में धार्मिक साधना में ही सुख और शान्ति पा सका, यद्यपि यह निश्चित रूप से ज्ञात नहीं है कि उसके अन्तिम तीन वर्षों का क्या कार्यक्रम रहा था। 646 ई. के अन्त में या 647 ई. के प्रारम्भ में मृत्यु ने हर्श के शादनदार जीवन का अंत कर दिया और हर्ष के परदे पर से हटते ही उसका साम्राज्य अराजकता और अव्यवस्था का लीला-स्थल बन गया।

हर्ष का मूल्याङ्कन–

हर्ष के जीवन के अनेक क्षेत्रों में अपने से प्राय: सहस्त्र वर्ष पूर्ववर्ती सम्राट् अशोक को अपना आदर्श चुना था, लेकिन हर्ष के आचरण में उसके जैसी उदात्तता नहीं थी। अशोक के समान हर्ष ने भी जीवन के अन्तिम भाग में बौद्ध धर्म को विशेष आदर प्रदान किया, लेकिंन अशोकक` समय के समान तब भारतवर्ष में बौद्ध धर्म के लिये अनुकूल परिस्थितियाँ नहीं थीं और न ही हर्ष अशोक के समान बौद्ध धर्म के प्रचार के लिए साहसिक पग उठा सका। सैनिक जीवन और बौद्ध धर्म के प्रति झुकाव की दृष्टि से हर्ष की तुलना कनिष्क से की जा सकती है। कुछ दृष्टियों से हर्ष की तुलना गुप्त सम्राट् चन्द्रगुप्त द्वितीय से भी की जा सकती है। लेखक और योद्धा के रूप में हर्ष की तुलना मुगल साम्राज्य के संस्थापक बाबर से की जा सकती है। संगठन की क्षमता तथा शासन की कुशलता की दृष्टि से हर्ष की तुलना मुगल सम्राट् अकबर महान् से भी की जा सकती है, यद्यपि हर्ष का साम्राज्य उसके जीवन के साथ ही समाप्त हो गया था। सब मिलाकर विजयी योद्धा, कुशल प्रशासक, प्रजा-पालक और सम्राट्, विद्वानों का आश्रयदाता तथा कवि के रूप में श्रीहर्षवर्धन भारत की महान् विभूतियों में अन्यतम था।

हर्ष – कवि एवं आश्रयदाता

विश्व के समस्त देशों एवं समाजों में विद्वान्, कवि और विद्वानों को संरक्षण देने वाले राजा होते आये हैं, परन्तु भारत में यह गौरवमयी परम्परा रही है। ऋग्वैदिक कवि राजर्षि विश्वामित्र के सुदूर अज्ञात काल से

लेकर अब तक भारतवर्ष में ऐसे असंख्य शासक हुए हैं जो स्वयं कवि और लेखक थे और जिन्होंने अपनी सभा में साहित्य-सेवियों और विद्वानों को एकत्र करके स्वयं को गौरवान्वित किया। इन सबका यहाँ उल्लेख करना न सम्भव है और न ही अपेक्षित। यहाँ संक्षेप में केवल उन कवि राजाओं का उल्लेख कर देना पर्याप्त होगा जिन्होंने संस्कृत की अलङ्कृत शैली में काव्य रचना करके संस्कृत साहित्य की समृद्धि में योग दिया है।

गुप्त-साम्राज्य का काल संस्कत की अलंकृत काव्य-शैली के उत्कर्ष का काल था। समुद्रगुप्त केवल विजेता ही नहीं था, वह गान और वादन की कला में भी निपुण था। उसी प्रकार उसकी काव्यरचना की प्रतिभा भी उच्चकोटि की थी। यद्यपि समुद्रगुप्त रचित कोई काव्य का नमूना सुरक्षित नहीं रहा है, परन्तु उसके एक उत्कीर्ण शासनपत्र में कहा गया है कि उसने पण्डितों को आजीविका देने में समर्थ अनेक काव्यों की रचना रके अपनी 'कविराज' की उपाधि प्रतिष्ठित कर ली थी-विद्वज्जनोपजीव्यानेककाव्य-क्रियाभिः प्रतिष्ठितकविराजशब्दस्य...। समुद्रगुप्त का पुत्र और उत्तराधिकार चन्द्रगप्त द्वितीय विक्रमादित्य (375-413 ई. लगभग) और उसका पौत्र कुमारगुप्त प्रथम (413-455 ई.) भी साहित्य और कला के प्रेमी तथा साहित्यकारों के महान् आश्रयदाता थे। सम्भवतः कालिदास इन्हीं की राजसभा का कवि था।

महाकवि बाण द्वारा हर्ष का कवि के रूप में उल्लेख-

राजाओं की कवि-परम्परा को देखते हुये हर्ष के कवि होने में कोई सन्देह नहीं हो सकता। महाकवि बाण ने अपने गद्यमय काव्य हर्षचरित में, जिसमें श्रीहर्षके चरित को अलङ्कृत शैली में निबद्ध किया गया है, हर्ष की काव्य-प्रतिभा का स्पष्ट उल्लेख किया। हर्षचरित की पद्यमय प्रस्तावना के 18वें पद्य में कहा गया है कि आढ्यराज (श्रीहर्ष) के हृदयस्थ 'उत्साहों'-कवि-कर्म तथावीरता पूर्ण कार्यों-को स्मरण करने मात्र से जिह्वा मानो अन्दर की ओर खींची जाने से कवित्व में प्रवृत्त नहीं होती। आढ्यराजकृतोत्साहैर्हृदयस्थैः स्मृतैरपि। जिह्वान्तः कृष्यमाणेव न कवित्वे प्रवर्तते॥-पिशल ने यहाँ आढ्यराज धनी राजा से हर्ष का ही संकेत माना है। आगे चलकर दो स्थलों पर तो बाण ने अपने आश्रयदाता की काव्य-सम्बन्धी प्रतिभा और सफलता का असंदिग्ध शब्दों में उल्लेख किया है। हर्ष की उपलब्धियों का उल्लेख करते हुये उसने श्लिष्ट पदों द्वारा उसके प्रताप और कवित्व के सम्बन्ध में कहा है-'अपि चास्य... कवित्वस्य वाच.... न पर्याप्तो विषयः' अर्थात् जैसे इसके प्रताप को प्रकट करने के लिये विषय का अभाव है वैसे ही इसकी काव्य-प्रतिभा को प्रकट करने में शब्द पर्याप्त नहीं है। हर्ष की काव्य-रचना की मौलिकता का संकेत करते हुए बाण ने अन्य स्थल पर हर्ष को काव्य और कथाओं में अनास्वादित अमृत को बहाने वाला कहा है-. **...काव्यकथास्वपीतमममृतमुद्वमन्तम्...।**

कवि राजा हर्ष के सम्बन्ध में अन्य प्रत्यक्ष उल्लेख-

सातवीं शताब्दी ई. के अन्तिम भाग में भारत आने वाले चीनी यात्री इत्सिंग ने लिखा है-राजा शीलादित्य (अर्थात् हर्ष; बौद्ध साहित्य` हर्ष का बहुधा शीलादित्य के नाम से उल्लेख हुआ है) अत्यधिक साहित्य-प्रेमी था; अनेक काव्यों की रचना कराने के अतिरिक्त राजा शीलादित्य ने बोधिसत्त्व जीमूतवाहन, जिसने नागके बदले अपनी बलि दी थी, की कथा को पद्यबद्ध किया था, यह कथा संगीत पर बांधी गई थी और उसने नृत्य और अभिनय के साथ एक मण्डली से इसका प्रदर्शन कराया था और इस प्रकार उसने अपने समय में इस कथा को लोकप्रिय बनाया था। इत्सिंग ने यहाँ स्पष्ट ही हष्र के नाम से प्रख्यात नागानन्द नाटक का संकेत किया जान पड़ता है।

काश्मीर के राजा जयापीड (800 ई.) के आश्रित कवि दामोदरगुप्त ने 'कुट्टनीमत' में 'रत्नावली' से उद्धरण देते हुए उसे राजा की कृति बतलाया है। 11वीं शताब्दी के कवि सोड्ढल ने, जैसा कि पहले कहा जा चुका है, हर्ष की गिनती कवि और आश्रयदाता राजाओं में की है। एक अन्य स्थल पर सोड्ढल

ने श्लेषोक्ति द्वारा श्रीहर्ष को 'वाणी का हर्ष' (गीर्हर्ष) कहा है–''पृथ्वी के राजाओं में श्रीहर्ष केवल नाम को ही 'लक्ष्मी का हर्ष' था, वस्तुत: तो यह 'वाणी का हर्ष' था, जिस राजा ने अपनी सभा में बाण का सौ कोटि स्वर्ण (के दान) से आदर किया था।'' श्रीहर्ष इत्यवनिवर्तिषु पार्थितेषु नाम्नैव केवलमजायत वस्तुतस्तु। गीर्हर्ष एष निजसंसदि येन राज्ञा सम्पूजित: कनककोटिशतेन बाण:॥ जयदेव कवि (समय लगभग 13वीं शताब्दी ई.) ने एक रूपक द्वारा भास, कालिदास प्रभृति कवियों को कविता–कामिनी के विभिन्न अङ्गों एवं चेष्टाओं के स्थानी बतलाते हुए हर्ष को उसका 'हर्ष' कहा है–यस्याश्चोरश्चिकुरनिकर: कर्णपूरो मयूरो। भासो हास: कविकुलगुरु: कालिदासो विलास:। हर्षो हर्षो हृदयवसति: पञ्चबाणस्तु बाण:, केषां नैषा कथय कविता–कामिनी कौतुकाय॥ सतरहवीं शताब्दी के लेखक मधुसदन ने भी बाण और मयूर का हर्ष की राजसभा से समबन्ध बतलाते हुए हर्ष को कवियों को मूर्धन्य और रत्नावली नाटिका का रचयिता कहा है–मालवराजस्योज्जयिनीराजधानीकस्य कविजनमूर्धन्यस्य रत्नावल्याख्यनाटिका–कर्तुर्महाराजश्रीहर्षस्य॥ लेकिन सम्भवत: उसने हर्ष को मालवदेश और उज्जयिनी से किसी भ्रम के कारण सम्बद्ध कर दिया है। 'सुभाषित–रत्न भाण्डागार' में संगृहीत एक पद्य में भी हर्ष का नाम उन प्रख्यात कवियों में गिनाया गया है, जिन्होंने अपनी कृतियों से लोक का रञ्जन किया है।

इसके अतिरिक्त हर्ष के उपलब्ध दान–पत्रों से भी हर्ष की काव्य–रचना सम्बन्धी प्रतिभा के विषय में पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। हर्ष के वंसखेड़ा और मधुबन के दो दान–पत्र मिले हैं, जिनका विषय किसी को भूमिदान करना है। पहले दान–पत्र पर उसके अपने हस्ताक्षर हैं जिससे उसका लेखन कला पर अच्छा अधिकार प्रतीत होता है। इन दोनों पत्रों में कुछ पद्य समान पाये जाते है। इनमें राज्यवर्धन की विश्वासघातपूर्ण हत्या का भावुकतापूर्ण वर्णन किया गया है, जो हर्षवर्धन की स्वयं की रचना प्रतीत होते हैं।

(इ) हर्ष के आश्रित कवि

अनेक प्रमाणों से यह सिद्ध है कि हर्ष स्वयं प्रतिभा–सम्पन्न कवि, कुशल प्रशासक एवं साहित्य का महान् पोषक था। उसके समय में अन्य भी अनेक कवि एवं विद्वान् हुए हैं, जो उसके आश्रित नहीं थे। उसकी सभा की कवि–मण्डली में से क्रमश: कादम्बरी और सूर्यशतक के प्रणेता बाण और मयुर सुप्रसिद्ध हैं। दिवाकर या मातङ्ग–दिवाकर भी उसकी सभा का कवि कहा जाता है। राजशेखर के एक पद्य के अनुसार दिवाकर अपने काव्य के गुणों के कारण बाण और मयुर के समान ही श्रीहर्ष की सभा का सभासद् बन गया था–अहो प्रभावो वाग्देव्या यन्मातङ्गदिवाकर:। श्री हर्षस्याऽभवत् सभ्य: समो बाण–समूरयो:। एक अन्य श्लोक में राजशेखर ने दिवाकर और बाण का समासयुक्त पद में एक ही साथ उल्लेख किया है (बाण–दिवाकरौ)। लेकिन अभी तक यह निश्चित नहीं हो सका है कि यह दिवाकर कौन था और उसकी कौनसी कृतियाँ थीं। यदि काव्यप्रकाश में उपलब्ध 'श्रीहर्षदेर्धावकादीनामिव धनम्' पंक्ति असली पाठ हो तो या तो धावक भी श्रीहर्ष की राजसभा का कवि था या श्रीहर्ष ने धावक को उसकी किसी मनोहारी रचना के लिए कोई पुष्कल धन–राशि पुरस्कार के रूप में दी थी। श्रीहर्ष की बाण के प्रति दिखलाई गई उदारता के विषय में सोड्ढल की उक्ति का पहले कथन किया जा चुका है। एक अन्य कवि ने भी श्रीहर्ष की उदारता के विषय में कहा है – '**श्रीहर्षो विततार गद्यकवये बाणाय वाणीफलम्**'।

राजा हर्ष के रत्नावली आदि रूपकों का लेखक होने से संदेह और उनका निवारण–

कतिपय विद्वानों ने राजा हर्ष के रत्नावली आदि रूपकों का लेखक होने में सन्देह प्रकट किया है। इस सन्देह का कारण यह है कि 11वीं शताब्दी के काश्मीरी लेखक मम्मट ने अपने प्रसिद्ध साहित्यशास्त्र के ग्रंथ काव्यप्रकाश में काव्य के प्रयोजनों में से एक प्रयोजन धन–लाभ भा कहा है। उसने 'काव्यं

यशसेऽर्थकृते...' आदि कारिका की गद्य में लिखित व्याख्या में उदाहरण देते हुए कहा है– 'कालिदासादीनामिव यश:-श्रीहर्षादेर्धावकादीनामवि धनम्' अर्थात् (काव्य से) कालिदास आदि को जैसे यश और श्रीहर्ष आदि से धावक आदि को जैसे धन (प्राप्त हुआ)। बाद के कुछ टीकाकारों ने, जो प्राय: सतरहवीं शताब्दो के आसपास के हैं, काव्यप्रकाश के उक्त स्थल की व्याख्या करते हुए रत्नावली को धावक की रचना बतलाया। काव्यप्रदीपोद्योत (या उद्योत) के लेखक नागेश ने लिखा–'धावक नाम का कवि था, उसने श्रीहर्ष के नाम से रत्नावली की रचना करके बहुत धन प्राप्त किया। ऐसा प्रसिद्ध ह।'' धावक: कवि। स हि श्रीहर्षनाम्ना रत्नावलीं कृत्वा बहु धनं लब्धवान्, इति प्रसिद्धम्। एक अन्य टीकाकार परमानन्द ने और भी स्पष्ट शब्दों में यही बात इस प्रकार कही–'धावक नाम के कवि अपनी कृति रत्नावली नाम की नाटिका को बेचकर श्रीहर्ष नाम के राजा के पास से बहत धन पाया था, ऐसा प्राचीनकाल में हुआ।'–धावकनामा कवि: स्वकृतिं रत्नावलीं नाम वाटिकां विक्रीय श्रीहर्षनाम्नो राज्ञ: सकाशाद् बहु धनमवापेति पुरावृत्तम्।

व्याख्याकारों की इन टिप्पणियों के आधार पर आधुनिक विद्वानों में बड़ा लम्बा विवाद खड़ा हो गया था। लेकिन अब अधिकतर अधिकारी विद्वानों का मत है कि रत्नावली आदि रूपक श्रीहर्ष की अपनी ही कृतियाँ हैं। काव्यप्रकाशकार का अभिप्राय केवल यही हो सकता था कि धावक आदि कवियों ने अपनी उत्तम काव्य-रचनाओं के लिये पुरस्कार स्वरूप श्रीहर्ष से बहुत-सा धन प्राप्त किया। पिछले टीकाकारों ने कदाचित् बिना सत्य की खोज किये ही मन:कल्पित बातें लिख दीं, इसलिये उनकी बातों पर विश्वास नहीं किया जा सकता। बाद के अलङ्कार-शास्त्र के विद्वानां ने ऐतिहासिक तथ्यों का बिना अन्वेषण किये ही किस प्रकार मन-घड़न्त बातें लिख डालह हैं, यह इसबात से भी सिद्ध होता है कि 19वीं शताब्दी के लेखक अच्युतराम (1813 ई.) ने अपने ग्रन्थ 'साहित्यसार' पर टीका करते हुये काव्यप्रकाश के आधार पर धावक को 'नैषधीयचरित' का लेखक बतलाया है। उसने यह बात लिखते समय सम्भवत: काव्यप्रकाश देखने का भी कष्ट नहीं किया और न यही ध्यान रखा कि 'नैषधीयचरित' का लेखक हर्ष दूसरा है, जो काव्यप्रकाशकार का परवर्ती था।

प्रो. बूहलर को काश्मीर में काव्यप्रकाश की जो हस्तलिखित प्रतियाँ प्राप्त हुई थीं, उन सब में 'धावक' के स्थान पर 'बाण' पाठ पाया जाता है। इससे डॉ. हॉल ने काव्यप्रकाश के 'बाणादीनामिव धनम्' शब्दों से यह अर्थ लगाया कि रत्नावली हर्ष की रचना न होकर बाण की रचना थी। लेकिन रत्नावली की प्रसादपूर्ण एवं सरल शैली को देखते हुये यह विश्वास नहीं किया जा सकता कि वह कादम्बरी के लेखक बाण की रचना हो। फिर यदि बाण अपनी कृति के बदले में धन प्राप्त करता तो वह कादम्बरी को बेचकर अधिक धन पा सकता है। इसलिये काव्यप्रकाशकार का संकेत कृति के विक्रय की और नहीं हो सकता। यह सर्वप्रसिद्ध है कि बाण श्रीहर्ष का आश्रित कवि था और श्रीहर्ष ने बाण की काव्य-प्रतिभा पर मुग्ध होकर उस मुक्त-हस्त से धन दिया था, जिसका वाद में सोड्एल ने उल्लेख किया।

काव्यप्रकाश के टीकाकारों की बात पर इसलिये भी विश्वास नहीं किया जा सकता कि 11वीं शताब्दी से पहले के किसी भी लेखक ने श्रीहर्ष के कवित्व पर सन्देह नहीं किया। नवीं शताब्दी के लेखक दामोदर गुप्त ने कुट्टनीमत के पिछले भाग में भारत की यात्रा करने वाले चीनी यात्री ने राजा शीलादित्य (जो नाम बौद्ध-साहित्य में श्रीहर्षके लिये प्रयुक्त हुआ है) रचित नागानन्द का उल्लेख किया है। टी.एस. नारायण शास्त्री का मत है कि का मत है कि प्रियदर्शिका, रत्नावली और नागानन्द–ये तीन रूपक कन्नौज के राजा हर्ष के न होकर कालिदास के पूर्ववर्ती हर्ष विक्रमादित्य (नारायण शास्त्री ने राजतरङ्गिणी के एक पद्य के आधार पर उज्जयिनी के शासक श्रीहर्ष-विक्रम की कल्पना की है।) (552-457 ई.पू.) के हैं, जो कि वस्तुत: धावक (भास) ने रचे थे। नारायण शास्त्री के इस सिद्धान्त का आधार राजशेखर रचित 'कवि-

विमर्श' से उद्धृत कहे गये कुछ श्लोक हैं–आदौ भासेन रचिता नाटिका प्रियदर्शिका। निरीर्ष्यस्य रसज्ञस्य कस्य न प्रियदर्शना। तस्य रत्नावली नूनं रत्नमालेव राजते। दशरूपककामिन्या वक्षस्यत्यन्तशोभना॥ नायानन्दं समालोक्य यस्य श्रीहर्षविक्रमः। अमन्दानन्दभरितः स्वसभ्यमकरोत्कविम्। परन्तु राजेशखर रचित वस्तुतः 'कवि–विमर्श' कोई ग्रन्थ है और उसमें यह श्लोक आये हैं, यह सन्दिग्ध है। क्योंकि जब 'प्रियदर्शिका' (वाणी विलास संस्कृत सिरीज, श्रीरङ्गम्, 1906) के विद्वान् सम्पादक पं. आर.वी. कृष्णमाचारियर ने नारायण शास्त्री को अपने मत की पुष्टि में प्रमाण देने को कहा तो वह कोई सन्तोषजनक उत्तर न दे सके। इसलिये जब तक राजशेखर के 'कवि–विमर्श' की कोई प्रति उपलब्ध न हो जाय तब तक उसके आधार पर कोई निर्णय नहीं किया जा सकता है।

एटिंगहाउसन ने अपने ग्रन्थ 'हर्ष–वर्धन' में नारायण शास्त्री के मत की आलोचना की है। स्टेन कोनो आदि विद्वानों का भी यही मत है कि प्रियदर्शिका आदि तो रूपक कन्नौज के राजा हर्ष की स्वयं की रचना है। संस्कृत के सुभाषित–ग्रन्थों में जो श्लोक इन तीनों नाटकों से संगृहीत किये गये हैं, वे हर्ष के नाम से ही प्रसिद्ध किये गये हैं।

हर्ष के कवित्व की पुष्टि में तीनों रूपकों में उपलब्ध आन्तरिक प्रमाण–

प्राचीन टीकाकारों की टीकाओं में हर्ष के कवित्व के विरुद्ध कथन होने पर भी और आधुनिक विद्वानों द्वारा इस कन की पुष्टि में खोजे गये अन्य प्रमाणों के रहते भी हर्ष द्वारा रचित कहे गये तीनों रूपकों में कुछ ऐसे अकाट्य प्रमाण उपलब्ध हैं, जो इस विषय में प्रचलित सब भ्रान्तियों को विच्छिन्न कर देते हैं और जिनसे यह सिद्ध हो जाता है कि रत्नावली आदि रूपक एक ही लेखनी से प्रसूत हैं और यह राजा हष की ही कृतियाँ हैं।

डॉ. पिशल ने प्रियदर्शिका, रत्नावली और नागानन्द का तुलनात्मक अध्ययन करके यह मत प्रकट किया है कि ये तीनों रचनायें किसी एक ही लेखक की कृतियाँ हैं क्योंकि उनमें अनेक स्थलों पर भाव, शब्दावली और घटना–संयोगों की ऐसी समानताय पाई जाती हैं, जो एक ही लेखक की कृतियों में सम्भव हैं। लेकिन यह ध्यान रहे कि पिशल ने इन तीनों कृतियों को उनमें उपलब्ध समानताओं के आधार पर धावक की रचना माना है। तीनों रूपकों की प्रस्तावना में उन्हें श्रीहर्ष की रचना बतलाया गया है और प्रस्तावना का वह भाग जिसमें कवि और उसकी रचना का निर्देश किया है, शब्दावली और वाक्य–विन्यास की दृष्टि से अत्यधिक समान है। 'श्रीहर्षो निपुणः कवि...' इत्यादि श्लोक तीनों रूपकों में समान रूप में पाया जाता है। प्रियदर्शिका और रत्नावली दोनों के 'भरतवाक्य' लगभग एक समान है, उनके केवल पिछले दो चरणों में कुछ शब्दों का हेर–फेर है। प्रियदर्शिका और नागानन्द में भी दो पद्य समान हैं। (प्रियद. 3.3 = नागा. 4.1, प्रियद. 3.10 = नागा. 1.14) प्रियदर्शिका और रत्नावली में तो पात्रों और घटना–संयोगों की इतनी अधिक समानता है कि एक कृति दूसरी का संशोधित संस्करण प्रतीत होती है। इसलिये जब तक प्रियदर्शिका आदि रूपकों की प्रस्तावना का वह भाग जिसमें उन्हें हर्ष की रचना बतलाया गया है, प्रक्षिप्त अथवा असत्य न प्रमाणित कर दिया जाय,जो साहस भी तक किसी विद्वान् ने नहीं किया है, तब तक उन्हें राजा हर्ष की कृति ही माना जाता रहेगा।

हर्ष की रचनाओं का कालक्रम –

तीन रूपक – सर्वविदित है कि प्रियदर्शिका, रत्नावली और नागानन्द–ये तीन रूपक हर्ष की कृतियाँ हैं। इनमें से प्रियदर्शिकाऔर रत्नावली नाटिका हैं और उनका विषय वत्स देश के राजा उदयन का प्रसिद्ध आख्यान है। नागानन्द नाटकों की श्रेणी में आता है। इसका नायक जीमूतवाहन है जिसने दया से आप्लावित होकर नाग की रक्षा के लिये स्वयं को समर्पित कर दिया था।

बौद्ध धर्म सम्बन्धी दो स्तोत्र – इन तीन रचनाओं के अतिरिक्त हर्ष के रचित दो स्तोत्र भी कहे जाते हैं। इन रचनाओं का विषम बौद्ध धर्म से सम्बन्धित है। 'सुप्रभातस्तोत्र' में 24 श्लोकों में जो अधिकतर मालिनी छन्द में हैं, अवलोकितेश्वर बुद्ध की स्तुति की गई है। इसकी पुष्पिका में श्रीहर्ष नाम आया है। दूसरा स्तोत्र 'अष्टमहारीचैत्यसंस्कृतस्तोत्र' आठ बौद्ध चैत्यों की प्रशंसा मे लिखा गया है। यह केवल चीनी अनुवाद में ही सुरक्षित है। चीनी यात्री ह्वेनसांग के अनुसार यह स्तोत्र भारतीय राजा का लिखा हुआ है और उसे चीनी भाषा में 'शील का सूर्य' कहा गया है जो 'शीलादित्य' नाम का अनुवाद जान पड़ता है। बौद्ध-साहित्य में, जैसा कि पहले लिखा जा चुका है, हर्ष शीलादित्य के नाम से प्रसिद्ध है। ये दोनों रचनायें र्ष की ही हैं, यह इस बात से भी सम्भव प्रतीत होता है कि हर्षका जीवन के अन्तिम भाग में बौद्ध धर्म की ओर अधिक झुकाव हो गया था।

इनके अतिरिक्त संस्कृत के सुभाषित-ग्रन्थों में हर्ष के नाम से प्रसिद्ध लगभग एक दर्जन ऐसे श्लोक भी हैं, जो उसके वर्तमान नाटकों में नहीं पाये जाते हैं। इससे प्रतीत होता है कि श्रीहर्ष ने कुछ अन्य रचनायें भी की थीं।

यद्यपि हर्ष के उपलब्ध नाटकों की रचना के काल-क्रम के विषय में कोई निश्चित साक्ष्य उपलब्ध नहीं है, लेकिन फिर भी तीनों नाटकों के तुलनात्मक अध्ययन से पाठक को यह अनुभव हो सकता है कि इनमें प्रियदर्शिका उसकी पहली कृति है, क्योंकि प्रियदर्शिका में वस्तु-योजना की वैसी चुस्ती, काव्य-गुणों की वैसी प्राञ्जलता और छन्दों की वैसी विधिवता नहीं पाई जाती जो रत्नावली और नागानन्द में पाई जाती है। रत्नावली और नागानन्द के पौर्वापर्य का प्रश्न तनिक जटिल है। कोई विद्वान् काल क्रम की दृष्टि से अन्तिम रचना रत्नावली को मानते हैं और कोई नागानन्द को।

रामास्वामी का विचार है कि प्रियदर्शिका और रत्नावली की अत्यधिक समानता को देखते हुए यह असम्भव जान पड़ता है कि कवि ने इन दोनों रचनाओं के बीच में कोई अन्य रचना की हो। दूसरे नागानन्द पर बौद्ध धर्म की छाप को देखते हुए भी यही सम्भव जान पड़ता है कि नागानन्द की रचना उन दिनों की होगी जब हर्ष का झुकाव बौद्ध धर्म की ओर अधिक हो गया था। रामास्वामो का यह भी विचार है कि हर्ष ने नायिका की आत्महत्या की चेष्टा का प्रयोग पहले रत्नावली में किया होगा, क्योंकि रत्नावली में आत्महत्या का प्रयास घटना-संयोग के विकास में सर्वथा अवसरोचित प्रतीत होता है। रत्नावली में नायिका की आत्महत्या की चेष्टा के नाटकीय प्रभाव से हर्ष कदाचित् इतना आकृष्ट हो गया था कि उसने रत्नावली के अनुकरण पर नागानन्द में भी नायिका को आत्महत्या के प्रयत्न की घटना की योजना कर डाली, यद्यपि नागानन्द में उन परिस्थितियों की सृष्टि नहीं की गई जो नायिका को आत्महत्या के लिये विवश करतीं।

इसके विपरीत, प्रो. ब्रह्मे और परांजये ने नायिका द्वारा आत्महत्या की चेष्टा की घटना से इससे विरुद्ध परिणाम निकाला है। उनका कहना है कि नागानन्द की मूल कथा में नायिका का आत्महत्या का प्रयत्न वर्णित किया गया है, इसलिये हर्ष ने नायिका की आत्महत्या की चेष्टा की योजना पहले नागानन्द में की होगी। बाद में इसके प्रभाव से मुग्ध होकर हर्ष ने रत्नावली में विवश करने वाली परिस्थितियों की सृष्टि करके नायिका की आत्महत्या के प्रयत्न की घटना की योजना की।

इन परिस्थितियों में रत्नावली और नागानन्द में से कौन रचना पहली है और कौन बाद की है, यह निर्णय करना कठिन है। लेकिन वस्तु-विन्यास के सुश्लिष्ट गठन और नाटकीय गत्यात्मकता को यदि किसी कवि की अंतिम रचना होने की कसौटी माना जाय तो तब सम्भवत: साक्ष्य रत्नावली के अन्तिम रचना होने के पक्ष में जायेगा।

5.3 संस्कृत साहित्य में हर्ष का स्थान –

प्राचीन कवियों की दृष्टि में – हर्ष ने उच्चकोटि के कवि और उदार विद्या प्रेमी के रूप में अपने समय में तथा उत्तरवर्ती कुछ शताब्दियों में ही आलोचकों का ध्यान अपनी ओर आकृष्ट कर लिया था। हर्ष के राजसभा के पण्डित बाण ने हर्ष के कवित्व और त्याग की भूरि-भूरि प्रशंसा की है। जयदेव ने उसे कविता-कामिनी का हर्ष कहा है

हर्ष को अपनी कवि-प्रतिभा का आत्म-विश्वास था। तीनों नाटकों में पाये जोन वाले एक श्लोक में उसने स्वयं को 'निपुण कवि' कहा है–श्रीहर्षो निपुणः कविः परिषदप्येषा गुणग्रहिणी। रत्नावली 1.5। प्रस्तावना में उसने सूत्रधार के मुख से अपनी रचना को अपूर्ववस्तुरचनालंकृत' कहलाया है– अस्मत्स्वामिना श्रीहर्षदेवेनापूर्ववस्तुरचनालङ्कृता रत्नावली नाटिका कृता, पृ. 6।

हर्ष कवि के रूप में – यद्यपि संस्कृत के पण्डितहर्ष के केवल रूपकों से ही परिचित हैं और उनके आधार पर ही हर्ष का साहित्य में मूल्याङ्कन करते हैं क्योंकि उसका अन्य कोई ग्रन्थ पठन-पाठन में प्रचलित नहीं हैं और न ही काव्य की दृष्टि से अन्य ग्रन्थों का इतना महत्त्व है, फिर भी हर्ष के रूपकेज्ञां के नाट्य-गुणों के अतिरिक्त काव्य-गुणों पर दृष्टिपात करने से पता चलता है कि हर्षका कवि उच्चकोटि का है। भाषा और शैली की सुबोधता तथा भावाभिव्यक्ति की सरलता में उसने अपने समकालीन बाण के पथ का अनुसरण न करके अपने पूर्ववर्ती कवि कालिदास के मार्ग को अपनाया है। साथ ही उसके नाटक भास के नाटकों के समान काव्य-गुणों से भी शून्य नहीं है। कालिदास के समान उसके नाटकों में काव्य और नाट्य गुणों का सुखदायक समन्वय हुआ है। हर्ष के नाटकों में यथास्थल नगर, प्रासाद, धारागृह, प्रभात, सन्ध्या, मध्याह्न, वन, आश्रम, पर्वत और युद्ध आदि प्रायः उन सभी वस्तुओं के सुन्दर एवं मार्मिक वर्णन हुए हैं, जिनका बहुधा संस्कृत काव्योंमें समावेश पाया जाता है। हर्ष एक साथ प्रणय के कोमल एवं युद्ध और भयानक के उत्कृष्ट चित्र उतारने में सफल रहा है। उसकी भाषा भावों और वर्ण्य विषय के अनुरूप होती है। चित्रपट में लिखित नायिका के चित्र को देखकर नायक के हृदय पर हुए प्रभाव को कवि ने कैसे सरल शब्दों में चित्रित किया है–

लीलावधूतपद्मा कथयन्ती पक्षपातमधिकं नः।
मानसमुपैति केयं चित्रगता राजहंसीव॥

–रत्नावली 2/6

लेकिन युद्ध के वर्णन में हर्ष की पदयोजना एकदम दूसरे ही प्रकार की होती है। उसमें लम्बे समासों और उपयुक्त संयुक्ताक्षरों की योजना होती है–

अस्त्रव्यस्तशिरस्त्रशस्त्रकषणोत्कृत्तोत्तमाङ्गे क्षणं
व्यूढासृक्सरिति स्वनत्प्रहरणे वर्मोद्वलद्वह्निनि।
आहूयाजिमुखे स कोसलपतिर्भङ्गप्रतीपीभव-
न्नेकेनैव रुमण्वता शरशतैर्मत्तद्विपस्थोहतः॥

–रत्नावली. 4/6

हर्ष ने श्लेष और अनुप्रास अलङ्कारों का समुचित उपयोग किया है। उत्तरवर्ती कवियों की भांति उसका अलङ्कारों का प्रयोग कविता की गति में बाधक नहीं हुआ है।

हर्ष नाटककार के रूप में – हर्ष के नाटकों में यद्यपि कथा-वस्तु की मौलिकता नहीं है और उसके नाटकों में घटना-संयोग, वस्तु-योजना तथा पदावली पर कालिदास और भास का स्पष्ट प्रभाव देखा जा सकता है फिर भी हर्ष ने पुराने आख्यान में नाटकीय व्यापार के लिये अपेक्षित परिवर्तन कर वस्तु-

विन्यास में जो सुश्लिष्टता और गति उत्पन्न कर दी है, वह सर्व प्रशंसनीय है। बाद के नाट्यशास्त्रियों ने नाट्य अङ्गों के उदाहरण के बहुधा हर्ष को रत्नावली और भट्टनारायण के वेणी–संहार नाटक को चुना है उसकी रत्नावली में नाट्य अङ्गों के प्राय: सब उदाहरण मिल जाते हैं परन्तु भट्टनारायण के वेणी–संहार की भांति हर्ष की रत्नावली नाट्य अङ्गों के सचेष्ट समावेश से भारी–भरकम नहीं हुई है। उसकी कथा–वस्तु में उन स्थितियों का सहज विकास हुआ है जो किसी रूपक को नाटकीय गति प्रदान करती है।

वस्तुविन्यास की दृष्टि से हर्ष की प्रियदर्शिका और रत्नावली दोनों नाटिकायें अत्यधिक सफल कही जा सकती हैं। रत्नावली में ऐन्द्रजालिक का दृश्य बड़ा विनोदपूर्ण और गतिमान है। अन्त:पुर में अग्निकाण्ड की घटना की योजना करके कवि ने सागरिका की पहचान के लिए सर्वथा नाटकोचित अवसर की सृष्टि की है। सारिका के पिंजरे से निकलने, सागरिका और सुसंगता के वचनों को दुहराने तथा राजा द्वारा सुने जाने में सहायक सिद्ध होती है। वेष–परिवर्तन करके सागरिका का अभिसरण और संकेत–स्थान पर होने वाली भ्रान्तियाँ बड़ी ही स्वाभाविक और प्रभावपूर्ण हैं। प्रियदर्शिका में गर्भाङ्क की योजना भी प्रियदर्शिका को दो प्रणय–कथाओं में परिणत करके दर्शक और पाठक को मुग्ध करने वाली हैं।

हर्ष की तीसरी रचना, नागानन्द नाटक विषय की दृष्टि से पहली दो कृतियों से सर्वथा भिन्न है। उसका उद्देश्य जीवन की उदात्ता का प्रकाशन है। वस्तु–योजना की दृष्टि से उसे सफल नाटक नहीं कहा जा सकता। पहले तीन अङ्कों का विषय गन्धर्व–कुमार जीमूतवाहन और सिद्ध–कन्या मलयवती की प्रणय–कथा है, पिछले दो अङ्कों में जीमूतवाहन के आत्मोत्सर्ग एवं पक्षिराज गरुड के अनुताप की कथा है। पहले तीन अङ्कों का पिछले दो अङ्कों से कोई सम्बन्ध नहीं है। यदि नागानन्द नाटक तीन अङ्कों में ही समाप्त कर दिया जाता तो, वह भी प्रियदर्शिका और रत्नावली के समान प्रणय–कथा मात्र रह जाता।

हर्ष पर पूर्ववर्ती कवियों का प्रभाव – हर्ष साहित्य–प्रेमी था, इसलिये स्वाभाविक रूप से उसने पूर्ववर्ती कवियों की रचनओं का आस्वादन किया होगा और उनसे प्रेरणा प्राप्त की होगी। आलोचकों ने हर्ष और कालिदास की रचनाओं की तुलना करके हर्ष पर कालिदास के प्रभाव का विस्तार में विवेचन किया है। कालिदास के मालविकाग्निमित्र और विक्रमोर्वशीय का हर्ष की प्रियदर्शिका, नागानन्द पर और यहाँ तक कि रत्नावली पर भी अत्यधिक प्रभाव कहा जाता है।

5.4 रत्नाावली की कथावस्तु

पूर्व कथा–

रत्नावली नाटिका उदयन से सम्बद्ध चार अङ्गों की नाटिका है। सिंहल के अधिपति विक्रमबाहु की पुत्री इसकी नायिका है, जिसके नाम पर नाटिका का नाम पड़ा है। इसका प्रमुख प्रेरक पात्र यौगन्धरायण है। उसने सिद्धों के इस वचन पर जो सिंहलाधिपति की पुत्री रत्नावली से विवाह करेगा वह चक्रवर्ती राजा होगा–विश्वास करके सिंहलेश्वर से उदयन के लिये सकी पुत्री की याचना की। परन्तु सिंहल के राजा ने, जो उदयन की प्रधान रानी वासवदत्ता का सम्बन्धी था, वासवदत्ता का ध्यान रखकर वैसा करने से मना कर दिया। तब यौगन्धरायण ने यह प्रवाद फैला दिया कि वासवदत्ता लावाणक में अग्नि में जलकर मर गई और उसने बाभ्रव्य नामक कञ्चुकी के द्वारा सिंहल के राजा विक्रमबाहु के पास उदयन के पक्ष में फिर विवाह का प्रस्ताव भेजा, जो स्वीकृत कर लिया गया।

रत्नावली अपने पिता के मन्त्री–वसुभूति और राजा उदयन के कञ्चुकी बाभ्रव्य के साथ जलयान द्वारा वत्स देश को आ रही थी कि दैवयोग से रास्ते में जहाज टूट गया, लेकिन वह संयोग से एक तख्ते के सहारे किनारे पर आ लगी। उसके पिता ने विदा होते समय उसे एक रत्नमाला दी थी। उस रत्नमाला की पहचान से किसी कौशाम्बी निवासी व्यापारी ने जो स्वदेश लौट रहा था, रत्नावली को पहचान लिया और उसे

यौगन्धरायण के पास ले गया। यौगन्धरायण ने उसे सागर में से मिलने के कारण 'सागरिका' नाम से प्रख्यात करके रानी वासवदत्ता की सेविका के रूप में अन्तःपुर में रख दिया। ऐसा करने में यौगन्धरायण का यह अभिप्राय था कि अन्तःपुर में रहते हुए सागरिका अपने लावण्य से अवश्य ही राजा उदयन का ध्यान आकृष्ट कर लेगी। रानी वासवदत्ता भी सागरिका के सौन्दर्य और राजा उदयन की सौन्दर्य-प्रवणता से आशङ्कित थी, इसलिये वह सागरिका को राजा की दृष्टि से बचाये रखने लिये सतर्क रहती थी।

प्रथम अङ्क – प्रथम अङ्क के पहले विष्कम्भक में यौगन्धरायण यह सूचना देता है कि भाग्य उसके स्वामी उदयन का बड़ा साथ दे रहा क्योंकि उसके स्वामी को चक्रवर्ती पद का लाभ कराने की कारणभूत सिंहलेश्वर की पुत्री रत्नावली यान-भङ्ग के कारण समुद्र में डूबकर भी फिर बच गई और किसी प्रकार उसे पहचान कर एक व्यापारी उसके पास ले आया। वह यह भी सूचना देता है कि उसने रत्नावली को वासवदत्ता के पास रखकर सव्रथा उचित किया है। इसी बीच नेपथ्य में कलकल ध्वनि होती है और यौगन्धरायण यह देखकर कि महाराज उदयन वसन्तोत्सव देखने के लिये प्रासाद पर चढ़ रहे हैं शेष कार्य की चिन्ता करने के लिये अपने घर चला जाता है।

कौशाम्बी में वसन्तोत्सव की धूम में अन्तःपुर के सब सेवक और पुर के नर और नारी डूबे हुये हैं। मकरन्द उद्यान में महारानी वासवदत्ता को कामदेव की पूजा सम्पन्न करनी है, जिसमें वह महाराज उदयन की उपस्थिति भी चाहती है। राजा के मकरन्द उद्यान में पहुँचने पर वासवदत्ता कामदेव-पूजन के लिये तत्पर होती है। परन्तु तभी उसे ज्ञात होता है कि सागरिका, जिसे महारानी ने सारिका की रक्षा के ब्याज से राजा की दृष्टि से बचाने के अभिप्राय से कामदेव पूजन के समय मकरन्द उद्यान में रखने का प्रयत्न किया था, पूजा की सामग्री लिये खड़ी है। रानी वासवदत्ता ने सागरिका को सारिका की देखरेख करने के लिये वहाँ से चले जाने की आज्ञा दी। परन्तु सागरिका को कौशाम्बी में काम-पूजन देखने का कुतूहल था, इसलिये वह छिप कर काम-पूजन देखने का निश्चय करती है और स्वयं काम-पूजन के लिये पुष्प-चयन के लिये चली जाती है।

इधर रानी वासवदत्ता काम-पूजा करने के पश्चात् राजा उदयन की पूजा करती है। तभी पुष्प चुनकर सारिका भी आ जाती है और उसे यह देखकर आश्चर्य होता है कि कौशाम्बी में चित्र में बनाये गये कामदेव की पूजा नहीं होती, अपितु देहधारी कामदेव की पूजा होती है। वह उदयन को कामदेव समझती है और स्वयं भी उसकी पूजा करती है। लेकिन तभी वैतालिक के द्वारा पढ़ी गई स्तुति से सागरिका यह जान लेती है कि यह वही राजा उदयन है जिसके लिये उसके पिता ने उसे दिया था। वह राजा को साभिलाष होकर देखती है और उसे देखते रहने के अवसरों की सुलभता की आशा से अन्तःपुर में सेविका के जीवन को भी बहुत मानती है।

द्वितीय अङ्क – द्वितीय अङ्क में सागरिका की मदनावस्था का वर्णन किया गया है। राजा के प्रति अनुरक्त सागरिका अपनी उत्कण्ठा मिटाने के लिये कदली-गृह में बैठकर उसका चित्र बनाती है और सखी सुसङ्गता के पूछने पर रहस्य छिपाती है। परन्तु सुसङ्गता रहस्य को ताड़ लेती है और उस चित्र-फलक में सागरिका का चित्र भी बना देती है। इस पर सागरिका सुसङ्गता से कुपित हो जाती है, लेकिन सुसङ्गता क आग्रहपूर्वक पूछने पर अपनी सब व्यथा बतला देती है। पिंजरे में बन्द सारिका उनके इस वार्तालाप को सुन लेती है। इसी बीच अश्वशाला से बन्धन तुड़ा कर छूटा हुआ वानर अन्तःपुर में भगदड़ मचा देता है। वानर को कदलीगृह की ओर आता देखकर सागरिका और सुसङ्गता घबराहट में सारिका के पिंजरे और चित्रफलक को कदलीगृह में छोड़ कर तमाल-वीथि में छिप जाती है। वानर पिंजरे का द्वार खोल देता है और सारिका उड़कर बकुल के वृक्ष पर बैठकर सागरिका और सुसङ्गता के मध्य हुए विश्रब्ध आलाप को दुहराने लगती है। श्रीखण्डदास धार्मिक से सीखे हुए दोहद के प्रभाव से अकाल-पुष्पित

नवमालिका को देखने के लिये मकरन्द उद्यान में जाते हुए राजा और विदूषक सारिका के आलाप को सुन लेते हैं और सारिका के पीछे–पीछे कदलीगृह में पहुँच जाते हैं और वहाँ सागरिका की काम–दशा को सूचित करने वाले कमलिनी–पत्रों के शयन, मृणाल–हार और चित्रपट को देखते हैं। इसी बीच चित्रपट को लेने के लिये सागरिका और सुसङ्गता भी पुनः कदलीगृह के समीप पहुँच जाती हैं और सुसङ्गता बड़ी चतुरता से राजा और सागरिका का मिलन करा देती है। सुसङ्गता की वाचालता से कुपित सागरिका को प्रसन्न करने के लिये राजा उसका हाथ पकड़ता है, परन्तु विदूषक की मूर्खता से यह मिलन अपूर्ण रह जाता है और भयभीत हुई सागरिका सुसङ्गता के साथ तमाल–वीथि की ओट में होकर वहाँ से चली जाती है। अकाल–पुष्पित नवमालिका को देखने के लिये काञ्चनमाला को साथ लिये महारानी वासवदत्ता भी मकरन्द उद्यान आती है। वासवदत्ता को देखकर विदूषक चित्रपट को बगल में दबा लेता है। रानी वासवदत्ता राजा से नवमालिका के पुष्पित होने का समाचार पूछती है। वह राजा के हर्ष से खिले मुख को देखकर ही समझ लेती है कि नवमालिका पर फूल आ गये हैं और नवमालिका देखने जाने से मना करती है।

इस पर विदूषक विजय के हर्ष में नाचने लगता है और उसकी बगल से चित्रपट नीचे गिर पड़ता है। वासवदत्ता उस चित्रपट में राजा और सागरिका के चित्र को देखकर कुपित हो जाती है। राजा तथा विदूषक के शपथ लेने और अनुन्य–विनय करने पर भी वासवदत्ता प्रसन्न नहीं होती और शिरोवेदना के ब्याज से वहाँ से चली जाती है। राजा और विदूषक भी महारानी को मनाने के लिये अन्तःपुर की ओर चले जाते हैं।

तृतीय अङ्क – कदलीगृह में सागरिका से मिलन के पश्चात् राजा उस पर अनुरक्त हो जाता है और सागरिका की चिन्ता में डूबा रहता है। विदूषक सागरिका की सखी सुसङ्गता से मिलकर राजा और सागरिका के एकान्त में मिलन की योजना बनाता है जिसके अनुसार विदूषक प्रदोषकाल में चित्रशाला के द्वार पर आकर क्रमशः वासवदत्ता और काञ्चनमाला का वेष बनाईहुई सागरिका और सुसङ्गता को माधवीलतामण्डप में स्थित राजा से मिला देगा। परन्तु वासवदत्ता को अपनी चेटी काञ्चनमाला के द्वारा विदूषक और सुसङ्गता के इस षड्यन्त्र का पता लग जाता है और वह काञ्चनमाला के साथ स्वयं संकेत–स्थान पर पहुँच जाती है। राजा आर विदूषक दोनों वासवदत्ता को उसके वेश में सागरिका समझते हैं। राजा उसके प्रति सागरिका नाम से सम्बोधन करके प्रेम प्रकट करता है और उसके रूप–सौन्दर्य की प्रशंसा करता है। राजा की इस धूर्तता को सहन न करके वासवदत्ता क्रोध में आकर स्वयं को प्रकट कर दती है। वस्तुस्थिति को जानकर राजा वासवदत्ता के चरणों में पड़कर क्षमा–याचना करता है, परन्तु वासवदत्ता राजा के अनुनय की अवहेलना करके वहाँ से चली जाती है।

सागरिका भी वासवदत्ता के वेष में मकरन्द उद्यान में पहुँचती है और राजा से एकान्त में मिलने की योजना के उद्घाटन हो जाने से अपमान की आशङ्का से आत्महत्या का प्रयतन करती है। लेकिन वासवदत्ता वेष–धारिणी सागरिका को आत्महत्या करती हुई देखकर विदूषक उसे वासवदत्ता समझकर रक्षा के लिये राजा को वहाँ बुला लेता है। राजा समीप जाकर लतापाश को हटाता है और सुखद आश्चर्य के साथ सागरिका को पाकर उसके प्रति अपना प्रेम प्रकट करने लगता है। वह कुछ क्षण पहले वासवदत्ता के प्रति प्रकट किये प्रेम–प्रदर्शन को कुलीनता के कारण की गई सेवामात्र बतलाता है।

इसी बीच राजा के अनुनय की अवहेलना करने पर पश्चात्ताप प्रकट करती हुई वासवदत्ता पुनः मकरन्द उद्यान में पहुँच जाती है। लेकिन वहाँ सागरिका को लक्ष्य कर किये गये राजा के प्रेमालाप को सुनकर आग–बबूला हो जाती है और विदूषक को लतापाश से बाँधकर और सागरिका को आगे करके अपने

महल में ले जाने की आज्ञा देकर चली जातो है। राजा भी वासवदत्ता को प्रसन्न करने के लिये अन्त:पुर की ओर जाता है।

चतुर्थ अङ्क – महारानी वासवदत्ता ने प्रसन्न होकर विदूषक तो छोड़ दिया, लेकिन सागरिका को कारावास में डाल दिया। सागरिका जीवन से निराश हो गई और पिता द्वारा प्रस्थान के समय दी गई रत्नमाला किसी ब्राह्मण को दान देने के लिये अपनी सखी सुसङ्गता को सौंप दी। सखी की विपत्ति से दु:खी सुसङ्गता रत्नमाला देने के लिये किसी ब्राह्मण को खोजती है और विदूषक को पाकर रत्नमाला उसे ही देती है।

रत्नमाला लेकर विदूषक राजा के पास पहुँचता है और सागरिका की दुरावस्था से उसे परिचित कराता है। उसी समय राजा कोयह समाचार मिलता है कि उसके सेनापति रुमण्वान् ने विन्ध्य-दुर्ग में स्थित कोसलाधिपति को युद्धक्षेत्र में मारकर कोसलदेश जीत लिया है। तभी उज्जयिनी से आया हुआ ऐन्द्रजालिक (जो वस्तुत: अमात्य यौगन्धरायण का प्रयोग था) अपना खेल दिखाने की अनुमति लेने आता है और राजा व वासवदत्ता साथ बैठकर उसका आश्चर्यजनक खेल देखते हैं। इसी बीच अमात्य वसुभूति और कञ्चुकी बाभ्रव्य पहुँचते हैं और ऐन्द्रजालिक राजा से एक खेल अवश्य देखने का अनुरोध करता हुआ बाहर चला जाता है। जब वसुभूति राजकुमारी रत्नावली के समुद्र में डूब जाने की कथा सुन रहा होता है तभी अन्त:पुर में भयङ्कर आग लग जाती है। महारानी वासवदत्ता राजा से कारागार में बाँधकर डाली गई सागरिका की रक्षा करने की प्रार्थना करती है। राजा आग में घुसकर सागरिका उसे उठा लाता है और अमात्य वसुभूति उसकी आकृति राजकुमारी रत्नावली से मिलती-जुलती देखकर राजा और वासवदत्ता से उसके विषय में पूछता है। अन्त में सागरिका पहचान ली जाती है और वह और कोई नहीं, वासवदत्ता के मामा की पुत्री रत्नावली सिद्ध होती है। इसी अवसर पर अमात्य यौगन्धरायण भी वहाँ पहुँच जाता है और अपनी सारी योजना प्रकट कर देता है। रानी वासवदत्ता भी रत्नावली को आभूषणों से अलङ्कृत करके उसका हाथ राजा को पकड़ा देती है और राजा से प्रार्थना करती है कि वह रत्नावली के प्रति ऐसा प्रेमपूर्ण व्यवहार करे कि उसे अपने दूरस्थ बन्धुओं की याद न सताये।

कथावस्तु का स्रोत

गुणाढ्य की बृहत्कथा – संस्कृत के नाटककारों ने प्राय: अपने नाटकों की कथावस्तु वीर-गाथा-काव्यों, प्राचीन आख्यानों अथवा प्रसिद्ध लोक-कथाओं से ली हैं। रत्नावली का लेखक हर्ष भी इसका अपवाद नहीं है। गुणाढ्य कही बृहत्कथा, जो कि पैशाची भाषा में लिखी कही जाती है और जिसका समय ईसा की प्रथम और तृतीय शताब्दी के कहीं मध्य में अनुमान किया जाता है, प्राचीन लोक-कथाओं और आख्यानों का सबसे बड़ा संग्रह था, जो दुर्भाग्य से अब वर्तमान नहीं है।

बृहत्कथा के तीन संस्कृत संस्करण – परन्तु उसकी कथायें हमें क्षेमेन्द्र की वृहत्कथामञ्जरी, सोमदेव के कथासरित्सागर और बुद्धस्वामी के बृहत्कथा श्लोक-संग्रह इन तीन ग्रन्थों में संस्कृत भाषा में उपलब्ध हैं। इनमें से सोमदेव का कथासरित्सागर बृहत्कथा का विस्तृत संस्करण कहा जाता है। क्षेमेन्द्र की बृहत्कथामञ्जरी उसका संक्षिप्त और काव्यमय रूप है। बृहत्कथा-श्लोक-संग्रह को बृहत्कथा का अधिक सही रूपान्तर समझा जाता है, परन्तु इसके केवल 28 सर्ग ही प्राप्त हुए हैं।

हर्ष के नाटकों की कथावस्तु का स्रोत बृहत्कथा अथवा प्रचलित लोक-कथा – यह सम्भव है कि हर्ष को मूल बृहत्कथा उपलब्ध रही हो और उसने अपने तीनों नाटकों की कथावस्तु सीधे बृहत्कथा से ली हो। नागानन्द नाटक की कथा की सोमदेव के कथासरित्सागर में वर्णित जीमूतवाहन की कथा से तुलना करने से प्रतीत होता है कि हर्ष ने नागानन्दकी कथा बृहत्कथा से ली है। परन्तु उदयन से सम्बन्ध रखने वाली प्रियदर्शिका और रत्नावली नाटिकाओं के विषय में यह निश्चयपूर्वकनहीं कहा जा सकता।

प्रथम तो यह निश्चित नहीं है कि कथासरित्सागर के लेखक सोमदेव ने मूल बृहत्कथा की उदयन सम्बन्धी कथा के घटनाओं के विकास–क्रम में क्या परिवर्तन किये हैं। दूसरे, पाली बौद्ध साहित्य से लेकर ईसा की तेरहवीं शताब्दी तक भारतीय साहित्य के अनेक क्षेत्रों में उदयन की कथा की चर्चा रही है।2 (2. आधुनिक भारतीय भाषाओं में भी उदयन सम्बन्धी साहित्य का निर्माण हुआ है।) कौटिल्य के अर्थशास्त्र और पतञ्जलि के महाभाष्य जैसे ग्रन्थों में भी उदयन की कथा का संकेत हुआ। हर्ष ने स्वयं वत्सराज के चरित को 'लोकहारि' कहा है। भास के दो नाटक स्वप्नवासवदत्त और प्रतिज्ञायौगन्धरायण की कथा उदयन से सम्बद्ध है। अनङ्गहर्ष मात्रराज (650 ई. और 800 ई. के मध्य) के तापसवत्सराजचरित का विषय भी उदयन–चरित ही है। शूद्रक ने मृच्छकटिक में उदयन की कथा का संकेत किया है। कालिदास ने मेघदूत में अवन्ती देश में ग्रामीण वृद्धों की उदयन–कथा से अभिज्ञता का उल्लेख किया है। इससे सिद्ध होता है कि उदयन की कथायं प्राचीन भारत में अत्यधिक लोकप्रिय थीं। इसलिये यह भी सम्भव है कि हर्ष ने रत्नावली और प्रियदर्शिका की कथा–वस्तु अपने समय में प्रचलित किसी लोक–कथा से ली हो।

यह मानकर कि सोमदेव का कथासरित्सागर मूल बृहत्कथा का सच्चा प्रतिनिधित्व करता है और सोमदेव ने उदयन–कथा की घटनाओं के विकास–विकास क्रम और सूक्ष्म विवरणों से कोई विशेष परिवर्तन नहीं किया है यदि रत्नावली की कथावस्तु की कथासरित्सागर के आधार पर बृहत्कथा गत उदयन–कथा से तुलना करें तो यह पता चल सकता है कि उदयन–कथा को नाटकीय गति और प्रीव देने में हर्ष ने कितनी मौलिकता और सूझ–बूझ का परिचय दिया है।

कथासरित्सागर में वर्णित उदयन-कथा का संक्षिप्त सार – उदयन चन्द्रवंशीय अर्जुनकुलोत्पन्न राजा शतानीक के पुत्र कौशाम्बी नरेश सहस्रानीक और अयोध्या के राजा कृतवर्मा की पुत्री रानी मृगावती का पुत्र था। शाप के वशीभूत गर्भवती रानी ने दोहद में राजा से रुधिर में स्नान करने की इच्छा प्रकट की तो राजा ने लाक्षा–रस के तालाब में उसके स्नान का प्रबन्ध कर दिया। लाक्षारस में लिप्त रानी को आमिष का पिण्ड समझ कर पक्षिराज उठा ले गया और जमदग्नि ऋषि के आश्रम के समीप उदयपर्वत पर छोड़ दिया। वहाँ ऋषि के आश्रम में रानी मृगावती ने उदयन को जन्म दिया। एक दिन बालक उदयन मृगया के लिये ूम रहा था कि उसने एक सुन्दर सर्प को पकड़े हुए व्याध को देखा। दयार्द्र उदयन ने अपना कटक व्याध को देकर उस सर्प को छुड़ा लिया। वह सर्प नागराज वासुकि का बड़ा भाई वसुनेमि था। वसुनेमि ने प्रसन्न होकर उसे घोषवती वीणा और अनेक मन्त्र दिये।

शवर कटक लेकर कौशाम्बी पहुँचा। जब वह बाजार में उस कड़े को बेच रहा था, तो उस पर राजा का नाम खुदा हुआ देखकर उसे रक्षकों ने पकड़कर राजसभा में उपस्थित किया। शबर से कड़े की प्राप्ति की घटना जानकर राजा सहस्रानीक रानी और पुत्र को पाने के लिये चल पड़ा। राजधानी लौटने पर सहस्रानीक ने राजकुमार को युवराज बना दिया और अपने मन्त्रियों के तीन पुत्र यौगन्धरायण, रुमण्वान् और वसन्तक परमार्श के लिये उसे दे दिये। जब राजा वृद्ध हुआ तो वह राज्य–भार उदयन को सौंप कर स्वयं तपस्या के लिये हिमालय पर चला गया।

राज–सिंहासन पर बैठने के पश्चात् राजा उदयन ने सब राज्य–भार मन्त्रियों पर डाल दिया और स्वयं मृगया खेलने और घोषवती वीणा बजाकर जंगली हाथियों को वश में करने के सुख में आसक्त हो गया। उज्जयिनी के राजा चण्डमहासेन की पुत्री वासवदत्ता के रूप–गुणों को सुनकर उदयन ने उससे विवाह करना चाहा। चण्डमहासेन भी उदयन को अपना जामाता बनाना चाहता था। परन्तु दोनों राज्यों की पुरानी शत्रुता इसमें बाधक थी, इसलिये चण्डमहासेन ने एक युक्ति सोची। पहले उसने उदयन के पास यह सन्देश भिजवाया कि वह उज्जयिनी आकर उसकी पुत्री को गन्धर्व–शिक्षा देवे। परन्तु स्वाभिमानी उदयन

ने यह स्वीकार नहीं किया और प्रतिसंदेश में कहला कर भेजा कि यदि उसकी पुत्री गान्धर्व-शिक्षा लेना चाहती है तो उसे कौशाम्बी भेज दिया जाय। इस पर उदयन की मृगयाशक्ति और वन्य हाथियों के वशीकरण के व्यसन से अभिज्ञ चण्डमहासे ने एक यन्त्र-गज (बनावटी हाथी) बनवाया और उसमें शस्त्रधारी सैनिकों को बैठाकर विन्ध्याटवी में छोड़ दिया। जैसी कि आशा थी, मृगया के लिये आये उदयन ने हाथी की भ्रान्ति में उस यन्त्र-गज को वीणा की स्वर-लहरी से वश में करने का प्रयत्न किया। लेकिन यन्त्र-गज उसे दूर ले गया और जब उदयन अपने साथियों से दूर निकल गया तो अन्दर बैठेहुये सैनिकों ने बाहर निकल कर उसे घेर लिया और बांधकर उज्जयिनी ले गये। वहाँ चण्डमहासेन ने उसके प्रति उदार व्यवहार किया और राजकुमारी वावदत्ता गान्धर्व-विद्या की शिक्षा के लिये उसे सौंप दी। शीघ्र ही उदयन और वासवदत्ता अनुरक्त हो गये और उन दोनों का समय सुख से बीतने लगा।

इधर कौशाम्बी में यौगन्धरायण और रुमण्वान् आदि मन्त्रियों को स्वामी के पकड़े जाने का पता चला तो उन्होंने भी युक्ति से काम लेने का निश्चय किया। राजा-भार रुमण्वान् को सौंपकर यौगन्धरायण वसन्तक को साथ लेकर उज्जयिनी की ओर चल पड़ा। उज्जयिनी के समीप पहुँचकर यौगन्धरायण ने ब्रह्म-राक्षस से सीखे हुए मन्त्र के प्रभाव से वसन्तक को विकलाङ्ग बना दिया और स्वयं भी पागल बन गया। इसी रूप में वे दोनों अन्त:पुर में पहुँचे और राजा को अपना परिचय दिया। यौगन्धरायण ने राजा उदयन के साथ आवश्यक परामर्श किया और वसन्तक उदयन तथा वासवदत्ता के मनो-विनोद के लिये गान्धर्व-शाला में ही रह गया।

जब वासवदत्ता का उदयन के प्रति गाढ प्रेम हो गया और वह पितृगृह को छोड़कर उसके साथ भाग जाने को तत्पर हो गई तो यौगन्धरायण अदृश्य रूप में अपने स्वामी के पास गया और उसे निगउ-बन्धन तोड़ने का योग बताया तथा अपीन सारी योजना समझा दी निश्चित योजना के अनुसार उदयन रात्रि में वासवदत्ता के साथ भद्रवती नाम की हस्तिनी पर सवार होकर चुपके से निकल भागा। वसन्तक और वासवदत्ता की विश्वासभाजन सखी काञ्चनमाला भी साथ में सवार थे। वासवदत्ता को लेकर उदयन के भाग निकलने के समाचार के प्रकट होते ही चण्डमहासेन के पुत्र पालक ने नडागिरि हाथी पर सवार होकर उसका पीछा किया। परन्तु जब नडागिरि ने अपनी सहचरी भद्रवती पर प्रहार न किया तो पीछे से आकर चण्डमहासेन के दूसरे पुत्र गोपालक ने अपने भाई को समझा-बूझाकर वापिस लौटा लिया। विन्ध्याटवी में पहुँचकर राजा अपने मित्र पुलिन्दक से मिला, जहाँ यौगन्धरायण पहले ही पहुँचा हुआ था। सेना लेकर रुमण्वान् भी सहायता के लिए पहुँच गया। तब सेना सहित उदयन अपनी राजधानी कौशाम्बी गया और चण्डमहासेन की अनुमति से गोपालक ने विधिवत् वासवदत्ता का उदयन के साथ विवाह कर दिया।

समय बीतने पर कभी चञ्चल राजा उदयन ने अन्त:पुर में रहने वाली परिचारिका विरचिता से, जिसका राजा से पहले भी सम्बन्ध रह चुका था, पुन: गुप्त सम्बन्ध कर लिया। एक दिन राजा द्वारा नामोच्चारण में की गई भूल से यह बात वासवदत्ता पर भी प्रकट हो गई और राजा ने कुपित रानी को चरणों में पढ़कर प्रसन्न किया।

कभी ऐसा हुआ कि गोपालक ने किसी बन्धुमती नाम की राजकुमारी को मञ्जुलिका नाम से छिपाकर वासवदत्ता के पास भेजा। उस लावण्यवती मञ्जुलिका को देखकर राजा उस पर अनुरक्त हो गया और वसन्तक की सहायता से एक दिन उद्यान-लतागृह में उसके साथ गन्धर्वविधि से विवाह कर लिया। रानी वासवदत्ता ने यह सब देख लिया और कुपित होकर मञ्जुलिका और वसन्तक को बन्धन में डाल दिया। इस पर राजा वासवदत्ता के पितृगह से आई वृद्धा प्रवाजिका सांस्कृत्यायनी के पास पहुँचा।

सांस्कृतत्यायनी ने वासवदत्ता को समझा-बुझाकर प्रसन्न कर लिया। वासवदत्ता ने बन्धुमती राजा को दे दी और वसन्तक को भी बन्धन से मुक्त कर दिया।

इसके बाद राजा उदयन मदिरा, संगीत और वासवदत्ता के साथ काम-क्रीड़ा में अपना समय व्यतीत करने लगा। मन्त्री यौगन्धरायण और रुमण्वान् राजा की विलासिता और पड़ौसी मगध के शक्तिशाली राजा प्रद्योत की और से चिन्तित थे। रुमण्वान् के साथ मिलकर यौगन्धरायण ने वासवदत्ता और गोपालक को विश्वास में लेक मगध-नरेश से मित्रता स्थापित करने का निश्चय किया। यौगन्धरायण ने राजा उदयन के लिये पद्मावती की याचना की, परन्तु मगध-नरेश वासवदत्ता के प्रति उदयन के प्रेम-भाव को देखकर अपनी प्रामाणिक प्रिय पुत्री को उसकी सपत्नी बनाने को तैयार न हुआ। इसलिये यौगन्धरायण पूर्व निश्चित योजना के अनुसार युक्ति से राजा उदयन को मगध की सीमा पर स्थित लावाणक ग्राम में ले गया। एक दिन जब राजा आखेट के लिये गया हुआ था तो यौगन्धरायण के योग के प्रभाव से स्वयं वृद्ध ब्राह्मण का रूप धारण किया और वासवदत्ता को ब्राह्मणी तथा वसन्तक को काणा वटु बना दिया और उन दोनों को लेकर मगध की ओर चल पड़ा। पीछे से रुमण्वान् ने अन्तःपुर में आग लगाकर यह प्रसिद्ध कर दिया कि वासवदत्ता और वसन्तक आग में जलकर मर गये।

मगध की राजधानी में पहुँचकर ब्राह्मण-वेषधारी यौगन्धरायण राजपुत्री पद्मावती से मिला और उससे प्रार्थना की कि उसकी पुत्री का व्यसनी पति अपनी पत्नी को छोड़कर कहीं परदेश चला गया है, इसलिये जब तक वह अपने जामाता को खोजकर लाये तब तक राजकुमारी उसकी पुत्री तथा काणे पुत्री को अपने पास रख लेवे। राजकुमारी पद्मावती ने ब्राह्मण की प्रार्थना स्वीकार कर ली। वासवदत्ता आवन्तिका नाम से ब्राह्मणी के रूप में और वसन्तक काणे बटु के रूप में कन्यान्तःपुर में रहने लगे।

यौगन्धरायण मगध से लौटकर तुरन्त लावाणक गया। मन्त्रियों ने वासवदत्ता के विरह से व्याकुल राजा उदयन को अनेक प्रकार से सान्त्वना दी। लावाणक स्थित मगध के गुप्तचरों ने प्रद्योत को वासवदत्ता के अग्नि-दाह से अवगत करा दिया तो प्रद्योत ने यौगन्धरायण के समीप उदयन के साथ अपनी पुत्री के विवाह-सम्बन्ध का संदेश भेजा, जिसे यौगन्धरायण ने बड़ी चाह से स्वीकार कर लिया और प्रतिसंदेश में कहला भेजा कि विवाह सातवें दिन हो जाना चाहिए जिससे राजा वासवदत्ता के विरह को भूल गये। निश्चित लग्न पर पद्मावती के साथ राजा उदयन का विवाह हो गया। रानी वासवदत्ता भी पद्मावती के साथ कौशाम्बी आ गई। वासवदत्ता और पद्मावती के पारस्परिक सौहार्द के कारण दोनों के बन्धुओं को प्रसन्नता हुई। इस प्रकार स्वामिभक्त यौगन्धरायण के बुद्धि-कौशल के वत्सदेश के दोनों शक्तिशाली प्रतिस्पर्धी मगध और अवन्ति के राज्य विवाह-सम्बन्ध में बंधकर मित्र हो गये और वत्सराज उदयन ने दिग्विजय करके चक्रवर्तित्व पद प्राप्त कर लिया।

रत्नावली की कथावस्तु पर मूल स्रोत का प्रभाव एवं परिवर्तन –

मूल स्रोत का प्रभाव कथासरित्सागर के आधार पर उदयन के आख्यान ने प्रकट होता है कि हर्ष ने रत्नावली में अपने कई प्रमुख पात्रों के तथा स्थानों के नाम मूल स्रोत से लिये हैं। वत्सराज उदयन वासवदत्ता, यौगन्धरायण, रुमण्वान्, वसन्तक और काञ्चनमाला ये पात्र रत्नावली और आख्यान दोनों में पाय जाते हैं। रत्नावली में रुमण्वान् को मन्त्री के स्थान पर सेनापति के रूप में दिखलाया गया है। कौशाम्बी और लावाणक इन दो स्थानों के नाम भी आख्यान में लिए गए हैं।

रत्नावली की कथावस्तु का सम्बन्ध उदयन के वासवदत्ता के साथ विवाहोंपरान्त चरित से है। उदयन के पूर्ववर्ती चरित के सम्बन्ध में केवल कुछ संकेत मात्र किये गए हैं।

लावाणक में वासवदत्ता को अग्निदाह का प्रवाद, उदयन की उद्यान-लतागृह में छद्म नाम से छिपाकर रखी गई बन्धुमती से गुप्त प्रेम लीला, वासवदत्ता द्वारा उसका देख लिया जाना, देवी का प्रसन्न होने पर

राजकुमारी को पति को देना–आख्यान की इन घटनाओं का हर्ष ने रत्नावली में बड़ी चतुरता का उपयोग किया है, जिससे हर्ष की रचनात्मक प्रतिभा का पता लगता है।

आख्यान में किये गये परिवर्तन – हर्ष ने रत्नावली की कथावस्तु में अनेक परिवर्तन किये हैं। कुछ परिवर्तन हर्ष की सर्वथा नूतन कल्पनायें हैं और कुछ में मूल आख्यान की घटनाओं का भिन्न पात्रों तथा परिस्थितियों से सम्बन्ध जोड़ दिया गया है। आख्यान में पद्मावती के साथ उदयन के विवाह का कारण मगध–नरेश को मित्र बनाने की चिन्ता है और विवाह का प्रस्ताव मन्त्रियों की सलाह से किया गया है, परन्तु रत्नावली के साथ विवाह का प्रस्ताव सिद्ध के इस वचन के विश्वास पर किया गया है कि जो रत्नावली से विवाह करेगा वह चक्रवर्ती राजा होगा। आख्यान में वासवदत्ता की सपत्नी पद्मावती मगध की राजपुत्री है, जबकि रत्नावली की नायिका सिंहलेश्वर विक्रमबाहु की कन्या है। आख्यान में वासवदत्ता और पद्मावती का क्रमशः चण्डमहासेन और प्रद्योत की पुत्री कहा गया है, परन्तु नाटिका वासवदत्ता को प्रद्योत की पुत्री कहा गया है। बौद्ध साहित्य में भी वासवदत्ता प्रद्योत (पज्जोत) की पुत्री कही गई है। आख्यान में देवी वासवदत्ता छद्मवेश में पद्मावती के अन्तःपुर में मगध में रही है, रत्नावली में नायिका सागरिका के नाम से छद्मवेश में वासवदत्ता के साथ कौशाम्बी में रहती है। आख्यान लावाणक में वासवदत्ता के दाह के प्रवाद का सम्बन्ध पद्मावती के विवाह के साथ है, जब कि रत्नावली में उसे नायिका के विवाह के साथ सम्बद्ध कर दिया गया है। आख्यान में पद्मावती के साथ उदयन का विवाह–सम्बन्धी मन्त्रियों की राजनैतिक चाल का फल है तथा उदयन पद्मावती के साथ विवाह के सम्बन्ध के प्रति कोई उत्सुकता नहीं दिखलाता है, प्रत्युत विवाहेपरान्त वासवदत्ता के प्रति सच्चा बना रहता है। रत्नावली में यद्यपि मन्त्री यौगन्धरायण नायिका के साथ राजा का विवाह राजनैतिक कारणों से ही कराना चाहता है, फिर भी नायिका के प्रति नायक के आकर्षण का प्रधान कारण नायक की रूप–लोलुपता ह। रत्नावली में आख्यान के बन्धुमती के प्रति राजा के अनुराग तथा तत्सम्बन्धी अन्य घटनाओं का सम्बन्ध सागरिका के नाम से छिपाकर रखी गई नायिका के साथ जा दिया गया है। एक प्रकार से रत्नावली की नायिका आख्यान की बन्धुमती और पद्मावती दोनों का मिलाजुला रूप है। आख्यान में बन्धुमती के साथ राजा की गुप्त प्रेम–लीला को देखकर कुपित हुई वासवदत्ता प्रव्राजिका सांकृत्यायनी के बीच में पड़ने पर प्रसन्न होती है और बन्धुमती तथा बसन्तक को बन्धन से छुड़ा कर बन्धुमती को राजा को दे देती है। रत्नावली में कुछ देर रोने–धोने क बाद वासवदत्ता का कोप स्वतः शान्त हो जाता है और कोप शान्त हो जाने पर वह वसन्तक को बन्धन से छुड़ा देती है, परन्तु नायिका को बन्धन से तभी छुड़ाती है। जब उसे यह ज्ञात होता है कि सागरिका उसकी अपनी बहन रत्नावली है। आख्यान में वासवदत्ता पद्मावती के साथ अपने पति के विवाह के राजनैतिक फलितार्थों से पहले से ही अवगत हैं, इसलिये उसे पद्मावती के प्रति कोई ईर्ष्या नहीं होती है; परन्तु रत्नावली में वासवदत्ता को विश्वास में नहीं लिया गया है। आख्यान में पद्मावती के साथ विवाह के लिये राजा उदयन मगध गया है; रत्नावली में नायिका को विवाह के लिये राजा उदयन मगध गया है; रत्नावली में नायिका को विवाह के लिये कौशाम्बी लाया गया है। आख्यान में उदयन और बन्धुमती के गान्धर्व–विवाहका उल्लेखमात्र हुआ है; रत्नावली में नायक और नायिका के पारस्परिक प्रथमानुराग की परिस्थितियों की सृष्टि भी की गई है।

कथा–वस्तु में नूतन कल्पनायें – हर्ष ने उदयन के आख्यान को नाट्योपगोयागी बनाने के लिये घटना–संयोगों को केवल क्रमबद्ध ही नहीं किया है, बल्कि उसे नाटिका के सांचे में ढालने और कथानक को अपेक्षित गीत और प्रभावोत्पादकता प्रदान करने के लिये कई सर्वथा मौलिक कल्पनायें भी की हैं। यानभङ्ग की कल्पना हर्ष की मौलिक कल्पना है, जो नायिका को छद्मवेश में उदयन के अन्तःपुर में रखने के लिये अवसर उपस्थित करती है। वसन्तोत्सव में काम–पूजन की घटना, जो हर्ष की अपनी कल्पना है, नायिका के हृदय में नायक के प्रति प्रथमानुराग उत्पन्न करने में सहायक है। सागरिका तथा

चित्रपट की घटना भी हर्ष की अपनी सूझ है, जो नायिका के प्रति नायक में प्रथमानुराग का बीजारोपण कर देती है। सागरिका द्वारा वेष परिवर्तन करके अभिसरण की घटना भी नूतन कल्पना है, जो आख्यान में नहीं पाई जाती। ऐन्द्रजालिक की माया से कौशाम्बी में अन्तःपुर–दाह की घटना भीरवीन कल्पना है।

परिवर्तनों का नाटकीय प्रभाव – हर्ष द्वारा आख्यान में किये गये परिवर्तनों के जादू से आख्यान का स्वरूप ही बदल गया है और हर्ष का यह दावा कि रत्नावली नाटिका 'अपूर्ववस्तुरचनालङ्कृत'1 (रत्नावली) है, सर्वथा उचित है। आख्यान में यौगन्धरायण को वासवदत्ता और वसन्तक का वेष–परिवर्तन करने के लिये चमत्कार का सहारा लेना पड़ा है, लेकिन रत्नावली में यानभङ्ग की घटना ने उसके गुप्त–वास को स्वाभाविक बना दिया है। पद्मावती के साथ विवाह के प्रति तटस्थ उदयन सारिका और चित्रपट की घटना की योजना से नाटिका के उपयुक्त शृङ्गारी नायक के रूप में परिणत हो गया है। सागरिका के वेष परिवर्तन करके अभिसरण करना, संकेत–स्थान पर वासवदत्ता का स्वयं पहुँच जाना और राजा पर कुपित होना, भेद खुल जाने पर सागरिका का आत्मत्या की चेष्टा करना, रुष्ट होकर चली गई वासवदत्ता के विषय में राजा का चिन्ता व्यक्त करना, वासवदत्ता की भ्रान्ति में आत्मघात की चेष्टा करती हुई सागरिका की रक्षा के लिये दौड़ना आदि इस प्रकार के घटना के सूक्ष्म विस्तारों के विधान ने नाटकीय व्यापार के लिये स्वाभाविक और उचित अवसर प्रदान किये हैं जिनसे सुहृदय को उत्सुकता, सहानुभूति और हास्य–मिश्रित आनन्द का अनुभव होता है।

ऐन्द्रजालिक–दृश्य के विधान ने सागरिका के बन्धन–मोचन और प्रत्यभिज्ञान के लिये नाट्योचित परिस्थितियाँ उत्पन्न कर दी हैं। यद्यपि रङ्गमञ्च की दृष्टि से ऐन्द्रजालिक–दृश्य व्यवहारिक कठिनाइयाँ उपस्थित कर सकता है, परन्तु नाटकीय प्रभाव की दृष्टि से उसकी उपयोगिता अस्वीकार नहीं की जा सकती।

हर्ष की विजयवर्मा के रूप में नये पात्र की योजना की प्रशंसनीय है। इससे शोक एवं चिन्ता में ग्रस्त नायक को उभर आने का अवसर मिल गया और उसके शौर्य तथा गुण–ग्राहकता आदि चरित्र–सम्बन्धी गुणों का निखार हो गया है।

रत्नावली की घटना का समय और अवधि

रत्नावली का कथानक उदयन के चरित के उस भाग से सम्बन्धित है, जो वासवदत्ता के साथ विवाह के पश्चात् होता है। रत्नावली के चौथे अङ्क में यौगन्धरायण के इस वचन से कि–''जब मेरे कहने से देवी ने पति का वियोग सहा तब मैंने स्वामी का दूसरी स्त्री के साथ सम्बन्ध स्थापित करके उसे दुःख ही दिया–प्रतीत होता है कि यहाँ 'परकलत्रसंघटनया' (रत्नावली) से यौगन्धरायण का अभिप्राय पद्मावती का विवाह है।

प्रथम अङ्क – नाटिका का व्यापार वसन्त ऋृतु (रत्नावली) में वसन्तोत्सव के किसी दिन मध्याह्नोत्तर में प्रारम्भ होता है और नायिका के हृदय में नायक के प्रति प्रथमानुराग का आरोपण कामदेव–पूजन की विधि के समय होता है जब नायिका को पता चलता है कि जिसे वह कामदेव समझ रही थी वह अन्य कोई नहीं है, अपितु राजा उदयन है, जिसके लिये उसे पिता ने दिया था। यह दिन सम्भवतः पूर्णमासी का दिन था, क्योंकि सूर्य के अस्त होते ही चन्द्रोदय का कथन किया गया है। प्रथम अङ्क की घटना की वास्तविक अवधि दो घण्टे के लगभग है और दिन क छिपते–छिपते प्रथम अङ्क समाप्त हो जाता है।

द्वितीय अङ्क – द्वितीय अङ्क की धटना प्रमि अङ्क की घटना से अगले दिन की प्रतीत होती है। क्योंकि प्रथम अङ्क में सागरिका द्वारा सुसङ्गता के हाथों सारिका सौंप देने का उल्लेख हुअ है और दूसरे अङ्क के प्रारम्भ में सुसङ्गता को सारिका–पिञ्जर उसे सौंपकर कहीं चली गई सागरिका की खोज में चिन्तित दिखलाया गया है। यह भी सम्भव है कि पहले और दूसरे अङ्क की घटनाओं में एक दो दिन का अन्तर

भी रहा हो। अङ्क की घटनायें दिन के किस भाग में हुई हैं, इसका कोई संकेत नहीं हुआ है। परन्तु सम्भवत: राजा ने श्रीखण्डदास से नवमालिका को अकाल-कुसुमित करने वाला दोहद प्रात:काल में सीखा था और सागरिका चित्र-लेखन की सामग्री लेकर कदलीगृह में मध्याह्न बाद गई थी। उसके बाद की घटनायें तुरन्त बाद की हैं। अङ्ग की घटनायें सम्भवत: सूर्यास्त से पहले ही समाप्त हो जाती हैं।

तृतीय अङ्क – इस अङ्क का व्यापार अगले दिन रात्रि के प्रथम भाग में प्रारम्भ होता है। कुछ समालोचकों ने द्वितीय और तृतीय अङ्क की घटनायें एक ही दिन की मानी हैं। परन्तु ऐसा सम्भव प्रतीत नहीं होता। तृतीय अङ्क में राजा को अस्वस्थता के ब्याज से कामावस्था को छिपाता हुआ कहा गया है–न हि सागरिकां वर्जयितवा...। देवी वासवदत्ता ने अस्वस्थ पति का समाचार जानने के लिये काञ्चनमाला को भेजा है (अस्वस्थशरीरस्य भर्तु:)। यह सम्भव नहीं है कि दो तीन घण्टे के अवान्तर में ही राजा के अनुचित प्रेम-सम्बन्ध पर कुपित रानी उसक अस्वस्थता का विश्वास कर ले। इसलिये दूसरे और तीसरे अङ्ग की घटना में एक दिन का अन्तर अवश्य होना चाहिये। संकेत-स्थान पर जाते समय चारों और गाढ अन्धकार फैल गया है। (भुवनस्येक्षणफलं तम:संघातोऽयं हरति) और सागरिका से मिलन के समय चन्द्रोदय हो गया है (दर्शितमनेनोद्गच्छता जडत्वम्।) इससे तृतीय अङ्क की घटना कृष्णपक्ष की द्वितीया की प्रतीत होती है और घटना का वास्तविक समय तीन घण्टे के लगभग है।

चतुर्थ अङ्क – इस अङ्क की घटनायें अगले दिन की हैं। अङ्क के प्रारम्भ में सूचना दी गई है कि देवी वासवदत्ता ने आधी रात के समय सागरिका को कहीं भेज दिया है। यह आधी रात तीसरे और चौथे अङ्क की घटनाओं के मध्य की है।

इस प्रकार रत्नावली नाटिका के कथावस्तु की घटनायें मदनमहोत्सव में कामदेव-पूजन के दिन से प्रारम्भ होती है और कुल चार या पाँच दिन में समाप्त हो जाती है।

5.5 रत्नावली का नाट्यशास्त्र की दृष्टि से विश्लेषण

संस्कृत नाटकों (नाट्यों) के प्रकार – संस्कृत काव्यों का प्रयोग की दृष्टि में दृश्य और श्रव्य दो श्रेणियों में विभाजन किया गया है – दृश्यश्रव्यत्वभेदेन पुन: काव्य द्विधा मतम्। साहित्यदर्पण, 6/1। दृश्य काव्यों को नाट्य रूप या रूपक भी कहा गया है – अवस्थानुकृतिनाट्यं रूप दृश्यतयोच्यते। रूपक तत्समारोपाद् दशधैव रसाश्रयम्।–दशरूपक 1/7) दृश्य-काव्यों के लिये आजकल हिन्दी भाषा में नाटक शब्द प्रचलित है, परन्तु संस्कृत के नाट्य-शास्त्र सम्बन्धी ग्रन्थों में 'नाटक' शब्द का प्रयोग दृश्य-काव्य के एक विशेष प्रकार के लिये प्रयुक्त हुआ है। दृश्य-काव्यों के फिर रूपक और उपरूपक दो भेद किये गये। संस्कृत के नाट्यों का आश्रय रस माना गया है और उनके वस्तु (कथानक) नेता (नायक) और रस के आधार पर और आगे उप-भेद किये गये हैं। रूपक के 10 और उपरूपक के 18 प्रकार होते हैं–

नाटकमथ प्रकरणभाणव्यायोगसमवकारडिमा:।
ईहामृगाङ्कवीथ्य: प्रहसनमिति रूपकाणि दश॥
नाटिका त्रोटकं गोष्ठी सट्टकं नाट्यरासकम्।
प्रस्थानोल्लाप्यकाव्यानि प्रेङ्खणं रासकं तथा॥
संलापकं श्रीगदितं शिल्पकं च विलासिका।
दुर्मल्लिका प्रकरणी हल्लीशो भाणिकेति च॥
अष्टादश प्राहुरुपरूपकाणि मनीषिण:।
विना विशेषं सर्वेषां लक्ष्म नाटकवन्मतम्॥

–साहित्यदर्पण 6/3-6।

संस्कृत नाटकों का रचना-विधान – संस्कृत नाटकों की बाह्य रचना लगभग एक ही प्रकार की है। संस्कृत नाटकों का प्रारम्भ नान्दी (मङ्गलाचरण) से होता है। नाटक को रङ्गमञ्च पर प्रस्तुत करते समय नटों को रङ्ग में आने वाले विघ्नों की शांति के लिये पूजा का विधान किया हे। इसे पूर्वरङ्ग कहा जाता है। (साहित्यदर्पण, 6/22; दशरूपक 3/2) नान्दी के पश्चात् सूत्रधार अथवा तत्सम स्थापक कवि और कृति का परिचय देता है और प्रायः नाटक के प्रयोग के समय की भी सूचना देता है। (केवल भास के नाटक और दक्षिणी भारत में प्राप्त कुछ अन्य नाटकों की पाण्डुलिपियाँ इसके अपवाद है) वह नटी अथवा पारिपार्श्विक या मार्ष या विदूषक के साथ वार्तालाप में चित्रोक्ति द्वारा अभिनेय वस्तु अथवा किसी प्रमुख पात्र की सूचना दे देता है।(दशरूपक 3/3, साहित्य दर्पण 6/27, 28, 31, 32) सूत्रधार के इस वार्तालाप को नाट्य-शास्त्र के शब्दों में आमुख या प्रस्तावना कहते हैं।

वस्तुतः नाट्य-व्यापार प्रस्तावना के पश्चात् प्रारम्भ होता है। मुख्य व्यापार से सम्बद्ध घटनाओं को दो प्रकार से प्रस्तुत किया जाता है। जो घटना सरस और मुख्य पात्र (नायक) से सम्बद्ध होती है और जिसका वस्तुतः रङ्गमञ्च पर अभिनय किया जाता है, उसका समावेश अङ्क में किया जाता है। एक अङ्क में प्रायः नायक से सम्बद्ध एक दिन की घटना रखी जाती है। (दशरूपक, 3/36, 37) परन्तु जो घटना नीरस, अङ्क में अदर्शनीय तथा अधिक समय तक घटने वाली होती है अथवा जब दो अङ्कों में निबद्ध की गई घटनाओं के मध्य अधिक लम्बी अवधि का अन्तर होता है तो उनकी केवलमात्र सूचना दे दी जाती है।(साहित्य दर्पण, 3/51, 52) इस प्रकार घटनाओं की सूचना जिस भाग में दी जाती है, उसे 'अर्थोपक्षेपक' कहते हैं। अर्थोपक्षेपक 5 प्रकार के होते हैं–विष्कम्भक, प्रवेशक, चूलिका, अङ्कावतार और अङ्कमुख (अङ्कास्य)। अर्थोपक्षेपक के ये भेद पात्रों की कोटि, नाट्यशाला में स्थिति और अङ्क के सम्बन्ध के आधार पर किये गये हैं। (साहित्य दर्पण, 6/54-60) यदि मूल से ही सरस कथा प्रारम्भ हो जाती है तो प्रस्तावना के तुरन्त बाद अङ्क रखा जाता है। लेकिन यदि अभिनेय घटना की परिस्थितियों को सुबोध बनाने के लिये कुछ पूर्ववर्ती घटनाओं की सूचना देना अपेक्षित होता है तो प्रस्तावना और प्रथम अङ्क के मध्य में विष्कम्भक की योजना की जाती है। पहले अङ्क के आदि में आवश्यकतानुसार केवल विष्कम्भक का ही प्रयोग किया जाता है। दो अङ्कों के मध्य में अन्य अर्थोपक्षेपकों–अधिकतर प्रवेशक– का प्रयोग किया जाता है। रत्नावली में प्रथम अङ्क के आदि में विष्कमभक और शेष अङ्कों के आदि में तीन प्रवेशक रखे गये हैं।

संस्कृत के कुछ नाटकों में अङ्क के मध्य में मुख्य पात्र के चरित से सम्बद्ध पूर्व-घटनाओं को नाटक के रूप में प्रस्तुत किया जाता है (उदा. उत्तरामचरित सप्त अङ्क; प्रियदर्शिका तृतीय अङ्क) अङ्क में आये नाटक को 'गर्भाङ्क' कहते हैं।

संस्कृत के प्रत्येक नाटक का अन्त भी, पारम्भ के समान पद्यमय आशीर्वचन से होता है, जिसमें लोक अथवा आश्रयदाता राजा या स्वयं कवि के कल्याण की कामना प्रकट की जाती है। पारिभाषिक शब्दों में इस पद्य को 'भरतवाक्य' कहते हैं।

संस्कृत नाटकों में भाषाओं की विविधता – संस्कृत नाटकों की एक अन्य विशेषता यहभी है कि उनमें संस्कृत के अतिरिक्त कई प्रकार की प्राकृतों का प्रयोग किया जाता है। नाट्य-शास्त्र के नियमानुसार राजा, देव, मन्त्री, ब्राह्मण आदि उत्तम पात्रों की भाषा संस्कृत होती है और अन्य पात्रों की भाषा प्राकृत। उत्तम स्त्री पात्रों की भाषा प्रायः शौरसेनी होती है और नीच पात्रों की मागधी। पद्य में शौरशेली-प्राकृत-भाषी पात्रों को महाराष्ट्री प्राकृत के प्रयोग का विधान है। जो नीच पात्र जिस देश का हो, उसे उस देश की भाषा बोलने का विधान किया गया है।(साहित्य दर्पण, 6/158-169)

श्रव्यता की दृष्टि से संवाद का विभाजन – रङ्गमञ्च की आवश्यकता के विचार से पात्रों के संवाद को श्रव्यता क आधार पर तीन प्रकार से विीक्त किया जाता है। जो वचन मञ्च पर उपस्थित सब पात्रों तथा रङ्गस्य सामाजिकों को सुनाने का होता है, उसे सर्वश्राव्य या प्रकाश कहते हैं। संस्कृत नाटकों में ऐसे संवाद से पहले 'प्रकाशम्' यह रङ्गमञ्च निर्देश दिया होता है। (उदाहरणार्थ, रत्नावली–मूल पाठ, पृ. 3 पर वासवदत्ता की उक्ति में) जो वचन किसी को भी सुनाने का नहीं होता, उसे 'अश्राव्य' या 'आत्मगत' कहते हैं और ऐसे संवाद में पहले 'आत्मगतम्' लिखा होता है। कुछ संवाद नियतश्राव्य होता हे। नियतश्राव्य दो प्रकार का होता है–(1) जनान्त और (2) अपवारित। जब 'त्रिपताक' कर से अन्य पात्रों को हटाकर दो पात्र दर्शकों के समीप परस्पर मन्त्रणा करते हैं, उसे 'जनान्तिक' कहा जाता है। ऐसे संवाद से पहले 'जनान्ते' या 'जनान्तिकम्' निर्देश दिया होता है। जब कोई पात्र एक ओर मुड़कर किसी दूसरे पात्र का रहस्य प्रकट करता है, उसे 'अपवारित' कहते हैं और ऐसे वचन से पहले 'सापवारितम्' या 'अपवार्य' निर्देश दिया रहता है।

कुछ संस्कृत नाटकों में ऐसा भी पाया जाता है कि कोई पात्र मञ्च पर दूसरे पात्र के बिना ही आकाश की ओर मुख उठाकर प्रश्नोत्तर करता है। इस प्रकार के प्रश्नोत्तरात्मक संवाद को 'आकाशभाषित' कहा जाता है और संवाद से पहले 'आकाशभाषितम्' निर्देश लिखा रहता है।

रत्नावलीः नाटिका, उपरूपक का एक भेद – रत्नावली उपरूपकों के एक भेद 'नाटिका' की कोटि में आती है। 'नाटिका' की कुछ विशेषतायें रूपकों के भेद 'नाटक' और 'प्रकरण' के समान होती है। 'नाटक' के समान इसका नायक प्रख्यात होता है, परन्तु 'प्रकरण' के समान वृत्त कृति–कल्पित होता है। अङ्गी रस शृङ्गार और नायक धीरललितहोता है। इसमें चार अङ्क होते हैं और स्त्री–पात्रों की अधिकता होती है। अन्तःपुर से सम्बद्ध अथवा संगीत में व्यापृत कोई नृपवंशज मुग्धा कन्या नायिका होती है। ईर्ष्यावती ज्येष्ठा प्रगल्भा देवी के भय से नायक डरता हुआ नायिका के प्रति प्रवृत्त होता है और अन्त में देवी के प्रसाद से ही नायक और नायिका का मिलन सम्भव होता है। नाटिका में चार अङ्क और विमर्श सन्धि को छोड़कर चार सन्धियाँ होती हैं। शृङ्गार रस के अनुरूप कैशिकी वृत्ति होती है। साहित्यदर्पण में नाटिका की परिभाषा इस प्रकार दी है–

नाटिका क्लृप्तवृत्ता स्यात्स्त्रीप्राया चतुरङ्किका।
प्रख्यातो धीरललितस्तत्र स्यान्नायको नृपः॥
स्यादन्तः पुरसबद्धा संगीतव्यापृताथवा।
नवानुरागा कन्यात्र नायिका नृपवंशजा॥
संप्रवर्तेत नेतास्यां देव्यास्त्रासेन शङ्कितः।
देवी पुनर्भवेज्ज्येष्ठा प्रगल्भा नृपवंशजा॥
पदे–पदे मानवती तद्वशः संगमो द्वयोः।
वृत्तिः स्यात्कैशिकी स्वल्पविमर्शाः सन्धयः पुनः॥

रत्नावली का नायक प्रसिद्ध वत्सराज उदयन है जो कला और संगीत का प्रेमी है। वृत्त को कवि ने अपनी कल्पना से सर्वथा नूतन रूप दे दिया है। रत्नावली की वस्तु चार अङ्कों में समाप्त हुई। प्रधान रस शृङ्गार है, यद्यपि सागरिका के विलाप और चतुर्थ अङ्क में युद्ध–वर्णन में क्रमशः करुण और वीर रस भी अङ्ग रूप में आये हैं। नायिका सागरिका अन्तःपुर से सम्बद्ध मुग्धा नृपकन्या है। ज्येष्ठा देवी वासवदत्ता प्रद्योत की पुत्री ईर्ष्यावती और कुपिता है। सागरिका के प्रति प्रेम–लीला में राजा को हमेशा देवी का भय रहता है, जैसा कि विदूषक की उक्ति से प्रकट किया गया है। नायक का नायिका से मिलन देवी के अधीन दिखलाया गया है–देवीप्रसादं मुक्त्वा नान्यममोपायं पशयामि, अत्किमिदानीमिह स्थितेन। देवीं

प्रसादयितुमभ्यन्तरमेव प्रविशामि। अन्तःपुर में सुलभ गीत, नृत्य भोग-विलास और काम-चेष्टा आदि की योजना होने से कैशिकी वृत्ति है।

रत्नावली में अर्थप्रकृति, अवस्था और सन्धि का विस्तार – संस्कृत नाटकों का आश्रय रस होता है। रस कही अभिव्यक्ति के लिये किसी सरस कथा का सहारा लिया जाता है। नाटक की कथा और व्यापार में गति तथा सहृदय की उत्सुकता बनाये रखने के लिये नाटककार को कथावस्तु के क्रमिक विकास और सुश्लिष्टता की ओर भी ध्यान रखना होता है। रस और कथा दोनों के सम्यक् विकास के प्रयोजन से नाटककारों के मार्ग-प्रदर्शन के लिये अर्थप्रकृति, कार्यावस्था और सन्धि तथा संध्यङ्गों का विचार किया है, जिससे कवि उन्हें जानकर रसाभिव्यक्ति के लिये उनका यथायथ सन्निवेश कर सकें- रसव्यक्तिमपेक्ष्यैषामङ्गानां संनिवेशनम्। न तु केवलया शास्त्रस्थितिसंपादनेच्छया। (साहित्यदर्पण)

किसी नाटक की कथावस्तु की घटनायें दो प्रकार की होती हैं-(1) आधिकारिक, (2) प्रासङ्गिक। मुख्य घटनाओं को, जो अधिकार (फलप्राप्ति) अथवा अधिकारी से सम्बद्ध होती है, आधिकारिक कहते हैं-अधिकारः फलस्वाम्यमधिकारी च तत्प्रभुः। तन्निर्वृत्तभिव्यापि वृत्तं स्यादाधिकारिकम्।-दशरूपक 1/12। आधिकारिक वृत्त के पुनः तीन भाग होते हं1 (1. बीज, बिन्दु और कार्य को यद्यपि किसी नाट्यशास्त्र सम्बन्धी ग्रन्थ में आधिकारिक वृत्त का भाग नहीं कहा गया है, परन्तु ये वृतत के भाग ही प्रतीत होते हैं-(1) बीज, (2) बिन्दु और (3) कार्य। प्रासङ्गिक वृत्त भी दो प्रकार का होता है-(1) पताका, जो वृत्त नाटक में पर्याप्त दूर तक चलता है। (2) प्रकरी, जो वृत्त केवल एक भाग तक चलता है। कार्य (प्रयोजन) की अपेक्षा में बीज, बिन्दु, पताका प्रकरी और कार्य इन पाँच को 'अर्थप्रकृति' कहा जाता है। पताका और प्रकरी का प्रत्येक रूपक में होना अनिवार्य नहीं है।

कार्य का हेतुभूत जो वृत्त थोड़ा-सा कह दिया जाता है, वह बीज के समान अनेक प्रकार से विस्तार वाला होता है, इसलिये 'बीज' कहलाताहै। रत्नावली नाटिका में सागरिका-प्राप्ति रूप कार्य का हेतु विष्कम्भक में उपनिबद्ध 'द्वीपादन्यस्माद्' से लेकर 'प्रारम्भेऽस्मिन् स्वामिनः' इत्यादि भाग में कहा गया यौगन्धरायण का व्यापार बीज है। अवान्तर प्रयोजन की समाप्ति पर छिन्न होती हुई कथा को जोड़ने वाले भाग को बिन्दु कहते हैं। रत्नावली में प्रथम अङ्क में कामदेव-पूजन की समाप्ति कर कथा विच्छिन्न हो जाती है; परन्तु 'उदयनस्येन्दोरिद्वीक्षते' से लेकर 'कधं अअं सो राजा उदअणो जस्स अहं तादेण दिण्णा' तक का भाग सागरिका के हृदय में प्रथमानुराग का हेतु होकर कथा को फिर से जोड़ देता है। इसलिये यह बिन्दु हुआ। विजयवर्मा द्वारा वर्णित रुमण्वान् का कोसलोच्छेद प्रकरी है। रत्नावली में पताका नहीं है।

फलार्थी द्वारा प्रारब्ध कार्य की पाँच अवस्थायें होती हैं। कार्य की पहली अवस्था 'आरम्भ' होती है, जिसमें फल-प्राप्ति की इच्छा प्रकट की जाती है। रत्नावली में 'प्रारम्भेऽस्मिन् स्वामिनो वृद्धिहेतौ...' इत्यादि से यौगन्धरायण के द्वारा कार्य का 'आरम्भ' दिखलाया गया है। फल की प्राप्ति न होने पर उसे प्राप्त करने के लिये जो उपाय किये जाते हैं, उसे 'प्रयत्न' कहते हैं। रत्नावली में वत्सराज से मिलन का उपाय सागरिका द्वारा उदयन का चित्र-लेखन 'प्रयत्न' है। कार्य की वह अवस्था, जब उपाय और विघ्न की आशङ्का होने पर फल-प्राप्ति होना समभव हो जाये, 'प्राप्त्याशा' कहलाती है। रत्नावली के तृतीय अङ्क में वेश-परिवर्तन करके अभिसरण आदि उपाय होने पर वासवदत्ता के रूप में विघ्न की आशङ्का 'एव्वं णेदं जइ अआलवादावली भविअ न आआदि देवी वासवदत्ता' विदूषक के इस वचन से दिखलाई गई है। इसलिये इस स्थल में कार्य की 'प्राप्त्याशा' अवस्था है। जब अपाय के दूर हो जाने पर फल-प्राप्ति निश्चित हो जाती है, कार्य की वह अवस्था 'नियताप्ति' कहलाती है। धनिक के अनुसार, रत्नावली के तृतीय अङ्क में विदूषक के 'साअरिआ उण दुक्करं जीविस्सदि'। इस वचन से लेकर राजा की

'देवीप्रसादं मुक्त्वा नान्यमत्रोपाय पश्यामि'। इस उक्ति तक के भाग में देवी रूपी विघ्न (अपाय) के प्रसादन द्वारा निवारण से फल-प्राप्ति की सुनिश्चिता सूचित हो रही है। इसलिये यहाँ कार्य की 'नियताप्ति' अवस्था है। जब समग्र फल-प्राप्ति हो जाये, कार्य की उस अवस्था को 'फलागम' (या फलयोग) कहते हैं। रत्नावली में सागरिका-लाभ द्वारा चक्रवर्तित्व प्राप्ति की सूचना वासवदत्ता की उक्ति 'अज्जउत्त पडिच्छ एदं' से लेकर यौगन्धरायण की 'इदानीं सफलपरिश्रमोऽस्मि संवृत्तः' इस उक्ति तक के भाग में मिलती है। इसलिये यह कार्य की 'फलागम' अवस्था है।

पाँच अर्थ-प्रकृति और पाँच कार्यावस्थाओं को मिलाकर उनके आधार पर नाट्य-शरीर का एक तीसरे प्रकार से विभागीकरण किया गया है, जिसे सन्धि कहते हैं – **अर्थप्रकृतयः पञ्चावस्थासमन्विताः।**

यथासंख्येन जायन्ते मुखाद्याः पञ्च सन्धयः॥ अन्तरैकार्थसम्बन्धः, सन्धिरेकान्वये सति। (दशरूपक 1/22-23) एक सन्धि में एक प्रयोजन से अन्वित कथांशों का एक अवान्तर प्रयोजन से सम्बन्ध होता है।-एकेन प्रयोजनेनान्वितानां कथांशानामवान्तरैकप्रयोजनसम्बन्धः सन्धिः। (दशरूपक 1/23 पर धनिक की टीका) ये सन्धियाँ भी पाँच होती हैं-मुख, प्रतिमुख, गर्भ, विमर्श और निर्वहण। मुख, प्रतिमुख, गर्भ, विमर्श और निर्वहण सन्धि में क्रमशः कार्य की आरम्भ, प्रयत्न, प्राप्त्याशा, नियताप्ति और फलयोग अवस्था होती है।

रत्नावली टीका में विष्कम्भक में यौगन्धरायण के 'एवमेतत्। कः सन्देहः... इत्यादि । इस वचन से लेकर द्वितीय अङ्क में कदली-गृह में चित्रफलक और लेखन-सामग्री लेकर गई हुई सागरिका के चित्र बनाकर वत्सराज के दर्शन के प्रयत्न सेपहले तक 'मुख' सन्धि है। द्वितीय अङ्क में सागरिका के 'जाव ण को वि इह आअच्छदि ताव आलेक्खसमप्पिदं तं अहिमदं जणं पेक्खिअ जधसमीहिदं करिससं' इस वचन से लेकर अङ्क की समाप्ति तक 'प्रतिमुखं' सन्धि है। तृतीय अङ्क में 'गर्भ' सन्धि है, क्योंकि यहाँ वेष-परिवर्तन द्वारा कुछ समय के लिये सागरिका-प्राप्ति सम्भव हुई है, लेकिन वासवदत्ता के आने और सागरिका तथा वसन्तक को पकड़ जाने से उसमें विघ्न पड़ा है और राजा देवी के प्रसादन द्वारा फिर अपाय निवारण केउपाय का अन्वेषण करता है। चौथे अङ्क में ऐन्द्रजालिक द्वारा प्रकट कृत्रिम अग्नि से अग्निःपुर-दाह तथा 'विमर्श' सन्धि प्राप्त हो गई है, क्योंकि अन्तःपुर में अग्नि दाह से वासवदत्ता को सागरिका के प्रति अनुराग हो गया है-ऐसा क्खु मए णिग्घिणाए इध निअडेण संजमिदा साअरिअः विविज्जदि। तां तं परित्ताअदु अज्जउत्तो, इसलिये देवी रूप अपाय के अभाव से फल-प्राप्ति निश्चित हो गई है। चौथे अङ्क के शेष भाग में 'निर्वहण' सन्धि है।

नाट्यशास्त्रियों ने पाँचों सन्धियों के भी सूक्ष्म विभाग किये हैं, जिन्हें सन्ध्यङ्ग कहते हैं और जिनकी संख्या 64 (12 + 13 + 12 + 13 + 14) है। रत्नावली में इन संध्यङ्गों को यहाँ दिखलाना सम्भव नहीं है। जिज्ञासु पाठकों को इसके लिये दशरूपक या साहित्यदर्पण देखना चाहिये, जहाँ संध्यङ्गों के उदाहरण अधिकतर रत्नावली और वेणी-संहार से लिये गये हैं।

रत्नावली में प्रयुक्त वृत्ति – नाट्यशास्त्र में वृत्ति से अभिप्राय नायक के रसानुरूप व्यापार (चेष्टा) से होता है –तद्व्यापारात्मिका वृत्ति। (दशरूपक 2/47) नाट्य के रस के अनुकूल ही नायक की चेष्टा होनी चाहिये। वृत्ति चार प्रकार की मानी गई है-कैशिकी, सात्त्वती, आरभटी और भारती। इनमें से प्रथम तीन नायक की चेष्टाओं से सम्बन्ध रखती हैं और अर्थवृत्ति कहलाती है। चौथी भारती वृत्ति वचन सम्बन्धी होने से भारती कहलाती है। अलग-अलग रसों के अनुसार वृत्तियों का अलग-अलग विनियोग किया गाय है। शृङ्गार में कैशिकी, वीर में सात्त्वकी और रौद्र तथा बीभत्स में आरभटी का विधान किया गया है। भारती वृत्ति सब रसों के अनुकूल हैं।

रत्नावली नाटिका, जैसा पहले कहा जा चुका है, शृङ्गार-रस-प्रधान है, इसलिये इसमें मुख्य वृत्ति कैशिकी है। प्रथम अङ्क में वसन्तोत्सव में गीत, नृत्य, वाद्य और सुरा-पान से, द्वितीय अङ्क में सागरिका के चित्र को देखकर किये गये सौन्दर्य-वर्णन से, तृतीय अङ्क में 'अङ्गानि त्वमनङ्गतापविधुराण्येह्येहि निर्वापय' आदि काम-चेष्टाओं में नायक की कैशिकी वृत्ति सूचित होती है। द्वितीय अङ्क में वानर-कृत उपद्रव में आरभटी वृत्ति का भी प्रयोग हुआ है। 'श्रीहर्षो निपुण: कवि:' इत्यादि प्ररोचना में भारती वृत्ति स्पष्ट ही है।

रत्नावली में प्रयुक्त प्रवृत्ति – नाट्यशास्त्र में प्रवृत्ति से अभिप्राय देश-भेद के अनुसार नाट्य के पात्रों की भाषा, क्रिया और वेष का भेद है–देशभाषाक्रियावेषलक्षणा: स्यु: प्रवृत्तय:। (दशरूपक 2/63) रङ्गमञ्चीय प्रभाव के लिये यह आवश्यक है कि जो पात्र जिस देश का हो उसकी भाषा, चेष्टा और वेष आदि उस देश जैसे ही हों। रत्नावली में पात्रों के वेष और चेष्टा के विषय में कोई संकेत नहीं मिलता। जहाँ तक पात्रों की भाषा का सम्बन्ध है, हर्ष ने नाट्यशास्त्र के नियमों का पूरा पालन किया है।

कथावस्तु की सुश्लिष्टता, घटना की गतिशीलता और रङ्गमञ्च पर अभिनेयता की दृष्टि स हर्ष की रत्नावली संस्कृत के रूपकों में सर्वश्रेष्ठ कही जा सकती है। रत्नावली की रचना में हर्ष ने नाट्यशास्त्र के नियमों का पूरा पालन किया है। यही कारण है कि उत्तरवर्ती नाट्यशास्त्रियों ने नाट्य-सिद्धान्तों के विवेचन में उदाहरण अधिकतर रत्नावली से लिये हैं। यह उल्लेखनीय है कि हर्ष ने सन्ध्यङ्गों का समावेश केवल नियम-पालन के लिये नहीं किया है, अपितु नाटिका की वस्तु और व्यापार के स्वाभाविक विकास में ही उनका समावेश किया है। यह कारण है भट्टनारायण के वेणीसंहार के समान रत्नावली में वस्तु-विन्यास की शिथिलता नहीं पाई जाी। दामोदरगुप्त ने रत्नावली की प्रशंसा में कहा है–

आश्लिष्टसंघबन्धं सत्पात्रसुवर्णयोजितं सुतराम्।
निपुणपरीक्षकदृष्टं राजति रत्नावलीरत्नम्॥

रत्नावली सर्वथा निर्दोष नाटिका है। यदि उसका कोई दोष है तो केवल यह कि उसकी कथा-वस्तु प्रियदर्शिका नाटिका से बहुत ही मिलती-जुलती है।

रत्नावली का उत्तरवर्ती नाटिकाओं पर प्रभाव – हर्ष की नाटिकाओं की विशेषतया रत्नावली का, उत्तरवर्ती संस्कृत साहित्य पर, विशेषकर नाटिकाओं पर बड़ा प्रभाव पड़ा है। राजशेखर की विद्धशालभञ्जिका और कर्पूरमञ्जरी (सट्टक), बिल्हण की कर्णसुन्दरी और ह्रास-काल की दो तीन और नाटिकायें जिनमें कायस्थ मथुरानाथ की वृषभानुजा नाटिका प्रमुख है, हर्ष के पदचिह्न पर चलती दिखाई पड़ती है।

डॉ. कीथ ने भी लिखा है कि संस्कृत नाट्यों में से नाटिकाओं का ऐसा वर्ग है, जिनकी रचना में कवियों ने नाट्यशास्त्र के सिद्धान्तों का मुखापेक्षी न बनकर अपनी रचनाओं की प्रेरणा नाट्य-कृतियों से पाई है, उत्तरवर्ती नाटिकाकारों का आदर्श हर्ष की नाटिकायें रही हैं।

हर्ष की रत्नावली की कथावस्तु शूद्रक के मृच्छकटिक के समान कवि-कल्पित है, परन्तु रत्नावली, मृच्छकटिक के विपरोत, केवल अन्त:पुर की प्रणय-लीला को ही चित्रित करती है। रत्नावली से हर्षकालीन समाज के रहन-सहन और रीति-रिवाजों पर कोई विशेष प्रकाश नहीं पड़ता है। हर्ष के समय में भी सम्भवत: आजकल के समान होली जैसा कोई मदनमहोत्सव वसन्त ॠतु में मनाया जाता था और जनता भूत-प्रेतों तथा योगी और सिद्धों की दिव्य-शक्ति में विश्वास रखती थी। राजाओं के अन्त:पुर में अनेक रानियाँ तथा दासियाँ रहती थीं और राजा लावण्यवती दासियों के साथ अपनी विषय-वासना को तृप्त करते रहते थे।

5.6 रत्नावली की भाषा तथा शैली –

हर्ष की संस्कृत और प्राकृत दोनों भाषायें शुद्ध व्याकरण संगत हैं। केवल कुछ स्थलों को छोड़क उसकी भाषा सरल, विरल–समासयुक्त और प्रसादगुणपूर्ण है। संक्षेप में उसके वाक्य–विन्यास को वेदर्भी रीति कहा कहा जा सकता है।

5.7 पात्रों का चरित्र चित्रण

हर्ष की नाटिकाओं के चरित्र सुनियोजित हैं। रत्नावली का नायक उदयन, सागरिका और वासवदता सर्वथा नाटिका के अनुरूप चित्रित किये गये हैं। हर्ष के उदयन और वासवदत्ता भास के स्वप्नवासवदत्त नाटक के उदयन और वासवदत्त से बहुत भिन्न हैं। रत्नावली का उदयन ललित प्रकृति का विलासी और स्त्रैण राजा है। उसमें दक्षिण, शठ और धृष्ट नायक का मिश्रण हुआ है। नायिका सागरिका मुग्धा नवानुरागा कन्या है। उसका एकमात्र गुण लावण्य है। वासवदत्ता नाटिका की ज्येष्ठा के अनुरूप सर्ष्य और मानवती है। राजा का नर्म–सचिव वसन्तक विदूषक होते हुए भी प्रत्युत्पन्नमति है।

हर्ष का नाट्यवैशिष्ट्य –

आचार्य बलदेव उपाध्याय ने कहा है कि हर्ष संस्कृत नाटककारों में रोमांचक 'प्रणय–नाटिका' के निर्माता के रूप में सदैव सम्मानित रहेंगे। उनके ऊपर भास और कालिदास का प्रकृष्ट प्रभाव तथा प्रेरणा अवश्य विद्यमान है। भास ने भो उदयन से सम्बद्ध दो नाटकों की रचना की है – स्वप्न–वासवदत्त और प्रतिज्ञा–यौगन्धरायण। इन दोनों नाटकों का प्रभाव विषय की एकता तथा कथानक की अभिन्नता होने के कारण हर्ष की इन दोनों नाटिकाओं के ऊपर पड़ा है। इसी प्रकार कालिदास के नाटकों की भीधटनाओं, वर्णनों तथा वार्तालापों में विशेष साम्य दृष्टिगोचर होता है–विशेषतः मालविकाग्निमित्र का, परन्तु हर्ष की मौलिकता तथा नवीन कल्पना में किसी प्रकार का सन्देह नहीं।

रोमान्टिक ड्रामा के जितने कमनीय तथा उपादेय साधन होते हैं। उन सब का उपयोग हर्ष ने इन रूपकों मं किया है। कालिदास के ही समान हर्ष भी प्रकृति और मानव के पूर्ण सामरस्य के पक्षपाती हैं। मानव–भाव को जाग्रत करने के लिए दोनों ने प्रकृति के द्वारा सुन्दर परिस्थिति उत्पन्न की है। 'कामोत्सव' के द्वारा पूर्ण आनन्द का साम्राज्य जब चारों ओर व्याप्त हो जाता है, तब सागरिका और उदयन के प्रथम दर्शन की अवतारणा की जाती है। गौरी के मन्दिर में वीणावादन की माधुरी से शान्त वातावरण में जीमूतवाहन मलयवती को पहली बार देखता है। इस प्रकार स्थान, ऋतु तथा सामग्री उपस्थित कर हर्ष ने रोमांचक प्रणय के उन्मेष के लिये उपयुक्त अवसर प्रदान किया है। इस प्रकार वे प्रणय–नाटिका के प्रथम सफल नाटककार हैं। 'गर्भाङ्क' की योजना उनकी दूसरी शास्त्रीय विशेषता है, जिसका अनुसरण भवभूति ने उत्तररामचरित में और राजशेखर ने बालरामायण में बड़े कौशल से किया है।

हर्ष की काव्यशैली सरल तथा सुबोध है। उनका वर्णन इतना विशद है कि पूरा दृश्य आँखों के सामने से गुजरता हुआ दिखाई पड़ता है। रत्नावली में होली का चटकीला वर्णन अन्यत्र अपीन समानता नहीं रखता। नागानन्द का आश्रमवर्णन भी बड़ा सुन्दर सरस तथा नैसर्गिक है। इस प्रकार काव्यकला तथा नाट्यकला – उभय दृष्टियों से हर्ष एक सफल कवि तथा रूपक–निर्माता हैं–

किं पद्मस्य रुचिं न हन्ति नयनानन्दं विधत्ते न कि
वृद्धिं वा झषकेतनस्य कुरुते नालोकमात्रेण किम्।
वक्त्रेन्दौ तव सत्ययं यदपरः शीतांशुरुज्जृम्भते
दर्पः स्यादमृतेन चेदिह तवाप्यस्त्येव विम्बाधरे॥

–रत्नावली 3/13

राजा उदयन सागरिका से कह रहा है कि तुम्हारे चन्द्रवदन के रहने पर यह दूसरा चन्द्रमा क्यों उदय ले रहा है? उदय से यह अपनी जड़ता क्या नहीं प्रदर्शित करता? इसके उदय होने की जरूरत ही क्या थी? तुम्हारा मूल क्या कमल की शोभा को नहीं नष्ट कर देता? क्या वह नेत्रों को आनन्द हनों देता? देखे जाने से ही क्या वह काम–वासना को प्रबल नहीं बनाता? चन्द्रमा के जो कार्य विदित हैं वे तो तेरे मुख में भी विद्यमान हैं। यदि अमृत धारण करने के कारण चन्द्रमा को गर्व है, तो क्या तेरे बिम्बाधर में सुधा नहीं है? तब फिर तुम्हारे चन्द्रवदन के सामने चन्द्रमा के उदय लेने की क्या जरूरत? यह पद्य काव्यप्रकाश में उद्धृत किया गया है। चन्द्रोदय के समय पूर्व दिशा का यह वर्णन कवि के सूक्ष्म निरीक्षण का परिचय देता है –

उदयतटान्तरितमियं प्राची सूचयति दिङ्निशानाथम्।
परिपाण्डुना मुखेन प्रियमिव हृदयस्थितं रमणी॥

चरित्र-चित्रण

उदयन–

श्रीहर्ष के द्वारा विरचित रत्नावली नाटिका के नायक राजा उदयन का चरित्र धीरललित नायकत्व से समुल्लसित है। रत्नावली में ललित एवं प्राञ्जल भाषाशैली वर्णित राजा उदयन का चरित्र चित्रण इस प्रकार है–

वत्सराज उदयन आकर्षक व्यक्तित्व का धनी है, वह रूपवान् सुन्दर युवक ह उसे देखकर युवतियाँ स्वाभाविक रूप से प्रभावित हो जाती है। सागरिका करती हुई आश्चर्य व्यक्त करती हुई कहती है–'कथं प्रत्यक्ष एव भगवान् कुसुमायुध इह पूजां गृह्णाति।

राजा उदयन प्रकृतिप्रेमी है। अतएव रत्नावली प्रथमाङ्क में कहता है – अरे! यह क्या उत्सव में दत्तचित्र वाला होकर मैंने सन्ध्या का बीत जाना न देखा। देवी, देखो! यह पूर्व दिशा उदयगिरि के तट से व्यवहित चन्द्रमा को विरहिणी रमणी के समान पीले मुख से हृदय में स्थित प्रिय को सूचित कर रही है – 'परिपाण्डुना मुखेन प्रियमिव हृदयस्थितं रमणी।'

राजा सागरिका के स्वाभाविक सौन्दर्य की प्रशंसा भी करता है – देवि! त्वन्मुखपङ्कजेन शशिनः शोभातिरस्कारिणा पश्याब्जानि विनिर्जितानि...।'

आपका कला प्रेम तथा प्रणय विलक्षण है। आप अपने प्रधानामात्य यौगन्धरायण पर राज्यसंचालन का दायित्व सौंप कर स्वयं कला एवं प्रणय में आसक्त रहते हुए जीवन–यापन करते हैं।

रत्नावली

रत्नावली नाटिका की नायिका 'रत्नावली' का चरित्रचित्रण श्रीहर्षदेव के उत्कृष्ट वाक्य विन्यासों से स्वाभाविक नैपुण्य के साथ मुखरित हुआ है।

रत्नावली अत्यन्त सुन्दर है तथा उसका चरित्र भी उदात्त है। राजा भी उसके अनुपम सौन्दर्य को देखकर मोहित हो जाता है। सिंहलेश्वर की दुहिता है रत्नावली। इस आभिजात्य होने का उसे पूर्ण अभिमान भी सदैव बना रहता है। इसके चरित्र में लेशमात्र भी दाग नहीं है।

रत्नावली का प्रत्येक कार्य प्रशंसनीय होता है क्योंकि उसके कृत्य से सदैव औदात्य झलकता रहता है।

रत्नावली को जब उदयन के बारे में पूर्णतया ज्ञान हो जाता है कि यह वही व्यक्ति है, जिसे मुझे पिता जी ने समर्पित किया था तभी वह प्रणय में अग्रस होती है।

रत्नावली का प्रणय, स्वाभाविकता तथा शालीनता की मर्यादा में आबद्ध रहता है। वह अपने दासीभाव से खिन्न नहीं है।

वह अपनी स्वामिनी की निपुण सेविका होने के नाते उसके प्रति किसी प्रकार का अनुचित करने में सदैव पराङ्मुख रहती है।

रत्नावली के चरित्र का नाटिका के अनुसार अध्ययन करने पर यह ज्ञात होता है कि वह संकेत-स्थल के लिए भी स्वयम् अग्रसर नहीं होती, अपितु विदूषक तथा सुसंगता के द्वारा प्रेरित होकर वह इस कार्य में प्रवृत्त होती है। महारानी इस वृत्तान्त से परिचित हो गई है, यह जानकर वह इतनी लज्जित होती है कि अपने प्राण ही त्याग देना चाहती है।

रत्नावली इसे अपनी मर्यादा पर इसे घोर प्रहार समझती है। रत्नावली का प्रणय रोमाञ्चक होकर भी संयत तथा मर्यादित है। उसके हृदय में राजा के लिए अगाध प्रेम है। इसका परिचय चित्रफलक के वृत्तान्त से स्वतः स्फुटित हो जाता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि रत्नावली के समस्त कार्यकलाप मर्यादा तथा आभिजात्य की सुगन्ध आप्यायिते अतः रत्नावली का चरित्र उदात्त, प्रणययुत तथा रमणीय है।

5.8 पारिभाषिक शब्दावली

नाटिका – रत्नावली उपरूपकों के एक भेद 'नाटिका' की कोटि में आती है। 'नाटिका' की कुछ विशेषतायें रूपकों के भेद 'नाटक' और 'प्रकरण' के समान होती है। 'नाटक' के समान इसका नायक प्रख्यात होता है, परन्तु 'प्रकरण' के समान वृत्त कृति-कल्पित होता है।

आधिकारिक– किसी नाटक की कथावस्तु की घटनायें दो प्रकार की होती हैं–(1) आधिकारिक, (2) प्रासङ्गिक। मुख्य घटनाओं को, जो अधिकार (फलप्राप्ति) अथवा अधिकारी से सम्बद्ध होती है, आधिकारिक कहते हैं–

प्रासङ्गिक वृत्त भी दो प्रकार का होता है–(1) पताका, जो वृत्त नाटक में पर्याप्त दूर तक चलता है। (2) प्रकरी, जो वृत्त केवल एक भाग तक चलता है।

अर्थप्रकृति – कार्य (प्रयोजन) की अपेक्षा में बीज, बिन्दु, पताका प्रकरी और कार्य इन पाँच को 'अर्थप्रकृति' कहा जाता है।

बीज – कार्य का हेतुभूत जो वृत्त थोड़ा-सा कह दिया जाता है, वह बीज के समान अनेक प्रकार से विस्तार वाला होता है, इसलिये 'बीज' कहलाताहै।

सन्धि – पाँच अर्थ-प्रकृति और पाँच कार्यावस्थाओं को मिलाकर उनके आधार पर नाट्य-शरीर का एक तीसरे प्रकार से विभागीकरण किया गया है, जिसे सन्धि कहते हैं – **अर्थप्रकृतयः पञ्चावस्थासमन्विताः।**

5.9 अभ्यासार्थ प्रश्न

बोधगम्य प्रश्न

1. रत्नावलीकार हर्षदेव का ऐतिहासिक परिचय दीजिए।
2. रत्नावली की कथावस्तु पर विशद प्रकाश डालिए।
3. रत्नावली की कथावस्तु के मूल स्रोत का विश्लेषण कीजिए।
4. घटना तथा समयावधि के आधार पर रत्नावली का मूल्यांकन कीजिए।
5. नाट्यशास्त्रीय दृष्टि से रत्नावली नाटिका का विश्लेषण कीजिए।
6. रत्नावली के नायक उदयन का चरित्र-चित्रण कीजिए।
7. रत्नावली का चरित्र चित्रण कीजिए।
8. हर्षदेव की भाषाशैली पर विशद प्रकाश डालिए।

5.10 सारांश

प्रस्तुत इकाई में आपने हर्ष के व्यक्तित्त्व एवं कृतित्व का अध्ययन किया । रत्नावाली के कथावस्तु का विस्तार से अध्ययन किया । रत्नावली की नाटकीय विशेषताओं का समीक्षात्मक अध्ययन किया साथ ही पात्रों के चरित्र-चित्रण एवं हर्ष की भाषा शैली को विस्तार से जाना ।

5.11 संदर्भ ग्रन्थ सूची

1. रत्नावली, किरणावली संस्कृतहिन्दी व्याख्योपेत, पं. राजेश्वरशास्त्री मुसलगांवकर,चौखम्भा संस्कृत प्रतिष्ठान, वाराणसी, 2004.
2. रत्नावली,शिवराज शास्त्री, साहित्य भण्डार, मेरठ, 1994.
3. संस्कृत के प्रमुख नाटककार तथा उनकी कृतियाँ, डॉ. गंगासागर राय, चौखम्भा संस्कृत भवन दिल्ली, 2001.
4. संस्कृत सुकवि समीक्षा,पं. बलदेव उपाध्याय, चौखम्भा विद्या भवन, वाराणसी, 1963.
5. संस्कृत साहित्य का इतिहास,पं. बलदेव उपाध्याय,शारदा प्रकाशन, वाराणसी, 1995.

इकाई - 6

रत्नावली - प्रथम एवं द्वितीय अंक

इकाई की रुपरेखा

6.0 उद्देश्य

1. मानवस्वभाव का अध्ययन।
2. विभिन्न जीवनदर्शनों का परिज्ञान।
3. संवाद शिक्षा।
4. भावाभिव्यक्ति।
5. अवस्थानुकृति अवसर।
6. विभिन्न परिस्थितियों का ज्ञान।
7. हितोपदेश प्रदान करना।
8. विश्रान्ति प्रदान करना।
9. स्वस्थ मनोरञ्जन।

6.1 प्रस्तावना

प्रस्तुत इकाई में हम रत्नावली के प्रथम अंक तथा द्वितीय अंक का विधिवत अनुशीलन करेंगे। यहाँ प्रथम अंक के प्रारम्भ में राजा का प्रधानामात्य योगन्धरायण दैव की अनुकूलता ता सहायता का संकेत करता है जिसके कारण उदयन के साथ परिणय के लिए आने वाले सिंहलेश्वर की राजकन्या रत्नावली जहाज के डूब जाने पर भी बच जाती है तथा वह मन्त्री के पास किसी सामुद्रिक वणिक् के द्वारा लाई जाती है। मन्त्री उसे सागरिका के नाम से वासवदत्ता की देख-रेख में रख आता है। कामदेव के उत्सव के प्रसङ्ग में वासवदत्ता कामवपुः राजा उदयन की ही सद्यःपूजा करती है जिसे पेड़ों की ओट से छिपे तौर से सागरिका प्रथम बार देखती है, उन्हें कामदेव समझाती है तथा प्रणय के मधुर भाव के अंकुरण के लिए पात्र बनती है। द्वितीय अंक में सागरिका अपनी सखी सुसंगता के साथ चित्तविनोद के लिए राजा का चित्र अंकित करती है जिसके पास सुसंगता सागरिका का ही चित्र खींचकर उसे रतिसनाथ बना देती है। कुछ गुप्त प्रणय की भी चर्चा है। एक बन्दर के भागने से महल में कोहराम मच जाता है। इसी हल्लागुल्ला में ये दोनों भाग खड़ी होती हैं। चित्रफलक वहीं छूट जाता है और राजा के हाथ पड़ने से वह गुप्त प्रेम के प्रकटन का साधन बनता है। इस प्रेम के प्रसारण में सारिका का भी कुछ हाथ है।

6.2 प्रथमोऽङ्कः

नाटिका के प्रारम्भ में आशीर्वादात्मक मंगलाचरण प्रस्तुत करते हुए कवि हर्षदेव ने दर्शक तथा पाठकों के कल्याण की कामना की है-

पादाग्रस्थितया मुहुः स्तनभरेणानीतया नम्रतां
शंभोः सस्पृहलोचनत्रयपथं यान्त्या तदाराधने।
ह्रीमत्या शिरसीहितः सपुलकस्वेदोद्गमोत्कम्पया
विश्लिष्यन्कुसुमाञ्जलिर्गिरिजया क्षिप्तोऽन्तर पातु वः ॥1 ॥

सदाशिव शम्भु के आराधन में अर्थात् पंजों पर पर खड़ी हुई, परन्तु स्तनों के भार से बार-बार विनत, शम्भु के लालसापूर्ण तीनों नेत्रों के पथ में जाती हुई, अतः रोमाञ्च, स्वेद (पसीने) तथा कम्पन से युक्त, लजाती हुई पार्वती द्वारा शिव के सिर पर डालने के लिये चाही गई किन्तु फेंके जाने पर शिव और पार्वती बीच में बिखरती हुई पुष्पाञ्जलि तुम्हारी अर्थात् सभासदों की (दर्शक/पाठकगण) रक्षा करे।

टिप्पणी–

इस श्लोक में शृङ्गार रस की व्यञ्जना हुई है। शिव और पार्वती आलम्बन विभाव है; रति स्थायिभाव है, जो कि शिव के 'सस्पृहलोचनत्व' और पार्वती के 'सपुलकस्वेदोद्गमोत्कम्पत्व' रूप अनुभावों से प्रकट होता है, पार्वती का 'ह्रीमती' होना संचारिभाव का द्योतन है।

ह्रीमत्या–ह्री + मत्या विद्यते सा ह्रीमतौ तया। ह्री + मतुप्।

वः–'युष्मद्' का द्वितीया विभक्ति बहुवचन का रूप। साहित्यमर्मज्ञों ने वः का अर्थ 'युष्मानस्मानन्यांश्च' अर्थात् 'हम तुम और अन्य सबको' किया है और 'त्यदादीनि सर्वैर्नित्यम्' के अनुसार एकशेष स्वीकार किया है।

अपि च

औत्सुक्येन कृतत्वरा सहभुवा व्यावर्तमाना ह्रिया
तैस्तैर्बन्धुवधूजनस्य वचनैर्नीताभिमुख्यं पुनः।
दृष्टवाग्रे वरमात्तसाध्वसरसा गौरी नवे संगमे
सरोहत्पुलका हरेण हसता श्लिष्टा शिवायाऽस्तु वः ॥2 ॥

टिप्पणी–

इस श्लोक में स्वभावोक्ति अलङ्कार है, क्योंकि नवोढा को चेष्टाओं का यथार्थ सुन्दर वर्णन हुआ है; लक्षण–स्वभावोक्तिस्तु डिम्भादेः स्वक्रियारूपवर्णनम्। शार्दूलविक्रीडित छन्द।

औत्सुक्येन–उत्सुकस्य भाव औत्सुक्यं तेन। उत्सुक + ष्यञ् (य) भावार्थक तद्धित प्रत्यय। हेतु में तृतीया विभक्ति।

सहभुवा–सह भवतोति सहभूः, सहज। सह + भू + क्विप्, कर्ता के अर्थ में कृत्प्रत्यय। 'ह्रिया' का विशेषण।

व्यावर्तमाना–वि + आ + वृत् + शानच; लौटती हुई।

वरः–वृणोतीति वरः, पति। वृ + अच्, कर्त्ताकारक के अर्थ में पचादिगण होने से 'नन्दिगृहिपचादिभ्यो ल्युणिन्यचः' (3/1/134) सूत्र के अनुसार अच् (अ) कृतप्रत्यय।

और भी

पहले मिलन में उत्सुकता के कारण पति की ओर जाने की शीघ्रता करती हुई, लेकिन सहज लज्जा के कारण लौटती हुई, फिर सम्बन्धी स्त्रियों के उन-उन अनेक प्रोत्साहित करने वाले वचनों के द्वारा शिव के सामने आनीत, सम्मुख पति को देख कर भय तथा आनन्द का अनुभव करती हुई, रोमाञ्चित हुई तथा

पार्वती की विचित्र अवस्था को देखकर हँसते हुए शिव के द्वारा आलिंगित की गई गौरी तुम्हारे कल्याण के लिए होंगे ॥2 ॥

अपि च

संप्राप्तं मकरध्वजेन मथनं त्वत्तो मदर्थे पुरा
तद् युक्तं बहुमार्गगां मम पुरो निर्लज्ज वोढुं तव।
तामेवानुनय स्वभावकुटिलां हे कृष्णकण्ठग्रहं
मुञ्चेत्याह रुषा यमद्रितनया लक्ष्मीश्च पायात्स वः॥

टिप्पणी–

वोढुम्–वह् + तुमुन्; धरण करना।

तामेव...कण्ठग्रहम्–इस पंक्ति में सभंग श्लेष है। (1) शिवपक्ष में स्वभावकुटिलां तामेव अनुनय, हे कृष्णकण्ठ ग्रहं मुञ्च स्वभाव से कुटिल उस गंगा को ही प्रसन्न करो, हे नीले कण्ठ वाले मेरा आलिंगन छोड़ दो।

इस श्लोक में श्लेष अलंकार है; लक्षण–**श्लिष्टैः** पदैरनेकार्थाभिधाने श्लेष इष्यते। शार्दूलविक्रीडित छन्द।

और भी

शिव पक्ष में–''पहले मेरे कारण कामदेव ने तुम से नाश प्राप्त किया था, हे निर्लज्ज, तब क्या मेरे सामने अनेक मार्गों में बहने वाली त्रिपथगा गंगा को वहन करना तेरे लिये उचित है? हे नीलकण्ठ शिव स्वभाव से कुटिल उस गंगा को ही प्रसन्न कर, मेरी पकड़ छोड़ दे।'' इस प्रकार क्रोध से पार्वती ने जिसे कहा था, वह शिव तुम्हारो रक्षा करे।

विष्णु–पक्ष में–पहले मेरे कारण समुद्र ने तुम से मंथन प्राप्त किया था, हे निर्लज्ज तब क्या मेरे सामने अनेकों के मार्गों पर चलने वाली कुलटा, कुब्जा को वहन करना तेरे लिये उचित है। हे कृष्ण, हृदय से कुटिल उस कुब्जा को ही प्रसन्न कर, मेरे कण्ठ का आश्लेष छोड़ दे। लक्ष्मी ने इस प्रकार क्रोधपूर्वक जिससे कहा था, वह विष्णु तुम्हारी रक्षा करे।

अपि च

क्रोधेद्धैर्दृष्टिपातैस्त्रिभिरुपशमिता वह्नयोऽमी त्रयोऽपि
त्रासार्ता ॠत्विजोऽधश्चपलगणहृतोष्णीषपट्टाः पतन्ति।
दक्षः स्तौत्यस्य पत्नी विलपति करुणं विद्रुतं चापि देवैः
शंसन्नित्यात्तहासो मखमथनविधौ पातु देव्यै शिवो वः॥

टिप्पणी–

वह्नि–वह् + नि उणादि प्रत्यय।

ॠतु–यज् + क्विप्।

विद्रुतम्–वि + द्रु + क्त (भाव में क्त प्रत्यय), इसलिये कर्ता '**देवैः**' में तृतीया विभक्ति। भाववाच्य में हमेशा नपुंसकलिङ्ग एकवचन का प्रयोग होता है।

इस श्लोक में रौद्र रस की व्यञ्जना हुई है। क्रोध स्थायिभाव है, गण आलम्बन विभाव है, पुरोहित आदि गत भय संचारिभाव है और उनका नीचे गिरना, दक्ष–पत्नी का विलाप तथा देवों का भागना आदि चेष्टायें अनुभव हैं।

यहाँ वासवदत्ता के क्रोध और सागरिका के विलाप की ओर भी संकेत मिलता है, जिसका आगे कथावस्तु में समावेश हुआ है। इस प्रकार नान्दी का यह श्लोक वस्तु निर्देश भी करता है। अनुप्रास अलङ्कार; लक्षण–'अनुप्रासः शब्दसाम्यं वैषम्येऽपि स्वरस्य यत्।' इस श्लोक में स्रग्धरा छन्द है।

और भी–

''क्रोध से दीप्त तीन दृष्टियों ने प्रक्षेप ने वह तीनों ही अग्नियां बुझा दीं, भय से आक्रान्त पुरोहित, जिनके दुपट्टे चञ्चल गणों ने छीन लिये थे, नीचे गिरने लगे; दक्ष प्रजापति स्तुति करने लगा; इसकी पत्नी करुण विलाप करने लगी और देव लोग भी भाग खड़े हुये।'' इस प्रकार यज्ञ-विध्वंस के विधान के विषय में देवी पार्वती से कहकर अट्टाहास करता हुआ शिव तुम्हारी रक्षा करे॥3॥

अपि च

जितमुडुपतिना नमः सुरेभ्यो द्विजवृषभा निरुपद्रवा भवन्तु।
भवतु च पृथिवी समृद्धसस्या प्रतपतु चन्द्रवपुर्नरेन्द्रचन्द्रः॥4॥

(नान्द्यन्ते)

टिप्पणी–

द्विवृषभाः – 'उपमित समास। कर्मधारय-समास में वृषभ, पुङ्गव व्याघ्र आदि शब्द अन्त में आने पर 'श्रेष्ठ' अर्थ के वाचक होते हैं–स्युरुत्तरपदे व्याघ्रपुङ्गवर्षभकुञ्जराः।

नरेन्द्रचन्द्रः – समास 'द्विजवृषभा' के समान। इसीलिये 'राजाओं में श्रेष्ठ' अर्थ हुआ। यहाँ उपमा अलङ्कार तथा पुष्पिताग्रा छन्द है।

और भी

नक्षत्रों का अधिपति चन्द्रमा सर्वोत्कर्ष को प्राप्त है; देवों को मेरा नमस्कार है; श्रेष्ठ ब्राह्मण उत्पीडन से मुक्त हों; पृथ्वी समृद्ध धान्य वाली हो और चन्द्रमा के समान सुन्दर शरीरवाला, चन्द्र सदृश राजा प्रताप प्रदर्शित करे॥4॥

टिप्पणी –

आवर्जितानि – आ + वृज् + णिच् + क्त। प्रस्तुत श्लोक में उपमालंकार है।

सूत्रधारः – अलमतिविस्तरेण। अद्याहं वसन्तोत्सवे सबहुमानमाहूय नानादिग्देशागतेन राज्ञः श्रीहर्षदेवस्य पादपद्मोपजीविना राजसमूहेनोक्तो यथा–अस्मत्स्वामिना श्रीहर्षदेवेनापूर्ववस्तुरचनालंकृता रत्नावली नाम नाटिका कृता। सा चास्माभिः श्रोत्रपरम्परया श्रुता न तु प्रयोगतो दृष्टा। तत्तस्यैव राज्ञः सकलजनहृदयाह्लादिनो बहुमानादस्मासु चानुग्रहबुद्ध्या यथावत्प्रयोगेण त्वया नाटयितव्येति। तद् यावदिदानीं नेपथ्यरचनां कृत्वा यथाभिलषितं सम्पादयामि। (परिक्रम्यावलोक्य च) अये, आवर्जितानि सकलसामाजिकानां मनांसीति मे निश्चयः। कुतः–

श्रीहर्षो निपुणः कविः परिषदप्येषा गुणग्राहिणी
लोके हारि च वत्सराजचरितं नाट्ये च दक्षा वयम्॥
वस्त्वेकैकमपीह वाञ्छितफलप्राप्तेः पदं किं पुन–
र्मद्भाग्योपचयादयं समुदितः सर्वो गुणानां गणः॥5॥

टिप्पणी–

हारि–हर्तुं शीलमस्य, हृ + णिनि;

उपचय–उप + चि + घ (अ); गुण।

यहाँ अनुप्रास अलङ्कार तथा शार्दूलविक्रीडित छन्द प्रयुक्त हुआ है।

सूत्रधार – बस, अधिक क्या! आज वसन्तोत्सव के अवसर पर अनेक दिशाओं तथा देशों से आये हुए, राजा श्री हर्षदेव के चरण-कमलों के आश्रित, राजा लोगों ने अत्यादरपूर्वक बुलाकर मुझसे कहा है– 'हमारे स्वामी श्री हर्षदेव ने अपूर्व कथा-रचना से अलंकृत रत्नावली नाम की नाटिका लिखी है। हमने कर्ण-परम्परा से उसके विषय में सुना तो है, लेकिन उसका अभिनय नहीं देखा है। इसलिये सब लोगों के हृदय को आनन्दित करने वाले उस राजा के प्रति अत्यधिक आदर के कारण और हमारे प्रति अनुग्रह करके तुम्हें उचित अभिनय द्वारा उसका नाट्य करना चाहिए।' तो, अब मैं वेष-विन्यास करके मन-चाहा किए देता हूँ। (घूम कर और देखकर) अहा! मुझे निश्चय है कि सब सहृदयों के चित्त हमारे नाट्यदर्शन लिये लालायित हैं। क्योंकि–

श्रीहर्ष चतुर कवि हैं, यह सभा भी गुणों की ग्राहक है, वत्सराज (उदयन) का चरित लोगों को लुभाने वाला ह और हम अभिनय-कला में पारंगत हैं।

तद् यावद् गृहं गत्वा गृहिणीमाहूय सङ्गीतकमनुतिष्ठामि। परिक्रम्य नेपथ्याभि-मुखमवलोक्य च) इदमस्मदीयं गृहम्। यावत् प्रविशामि। (प्रविश्य) आर्ये इतस्तावत्।

इनमें से एक-एक वस्तु भी अभीष्ट फल की प्राप्ति कारण होती है। फिर भला क्या कहना, जबकि मेरे भाग्य के उत्कर्ष से सब गुणों का समूह एकत्र उपस्थित हो गया है॥5॥

तो अब घर जाकर और गृहिणी को बुलाकर संगीत का प्रबन्ध करता हूँ। (प्रवेश करके) आयें, इधर तो आओ।

(प्रविश्य)

नटी–अज्जउत्त, इअम्हि। आणवेदु अज्जो को णिओजो अणुचिट्ठीअदुत्ति।

(आर्यपुत्र, इयमस्मि। आज्ञापयत्वार्यः को नियोगोऽनुष्ठीयतामिति।)

सूत्रधारः – आर्ये रत्नावलीदर्शनोत्सुकोऽयं राजलोकः। तद् गृह्यतां नेपथ्यम्।

नटी–(निःश्वस्य सोद्वेगम्) अज्जउत्त, णिच्चिन्तो दाणिं सि तुमम्। ता कीस ण णच्चसि। मह मन्दभाआए उण एक्का जेव्व दुहिवा। सा वि तुए कहिंचि देसन्तरे दिण्णा। कधं एव्वं दूरदेसट्ठिदेण जामादुणा सह से पाणिग्गहणं भविस्सदित्ति इमाए चिन्ताए अप्पा वि ण मे पडिहादि। किं उण णच्चिदव्वम्।

(आर्यपुत्र, निश्चिन्त इदानीमसि त्वम्। तत्किमिति न नृत्यसि। मम मन्दभाग्यायाः पुनरेकैव दुहिता। सापि त्वया कस्मिंश्चिद्देशान्तरे दत्ता। कथमेवं दूरदेशस्थितेन जामात्रा सहास्याः पाणिग्रहणं भविष्यतीत्यनया चिन्तयात्मापि न मे प्रतिभाति। किं पुनर्नर्तितव्यम्।)

नटी–आर्यपुत्र, यह आ गई। आर्य आज्ञा देवें कि क्या आज्ञा सम्पन्न की जाए?

सूत्रधार – आर्ये, ये राजा लोग रत्नावली देखने को उत्सुक हैं। इसलिये देश-विन्यास कर लीजिये।

नटी – लम्बा सांस लेकर परेशानी के साथ आर्यपुत्र, तुम तो अब निश्चिन्त हो, नाचोगे क्यों नहीं? लेकिन मुझ भाग्यहीन की तो एक ही पुत्री थी, वह भी तुमने कहीं परदेस में दे दी। इतने दूर देश में रहने वाले दामाद से इसका विवाह कैसे होगा–इस चिन्ता से मुझे तो अन्तःकरण भी नहीं सुहाता, फिर भला नृत्य क्या?

सूत्रधारः – आर्ये, दूरस्थेनेत्यलमुद्वेगेन। पश्य–

द्वीपादन्यस्मादपि मध्यादपि जलनिधेर्दिशोऽप्यन्तात्।
आनीय झटिति घटयति विधिरभिमतमभिमुखीभूतः॥6॥

टिप्पणी –

घटयति–मिला देता है; घट् + णिच् + तिप्।

अभिमुखीभूतः – अभिगतं मुखमस्य अभिमुखः, अभिमुख + च्वि + भू + क्त ('विधिः' का विशेषण)।

इस श्लोक में सागरिका, वसुभूति और बाभ्राव्य के समुद्र में डूबकर बचने और सागरिका के अन्तःपुर में आने का संकेत हुआ है, इसलिये अप्रस्तुतप्रशंसा अलङ्कार है। यहाँ आर्या छन्द का प्रयोग हुआ है।

सूत्रधार – आर्ये, दूर रहने वाले पति के कैसे विवाह होगा इसके लिये परेशानी न उठाओ। देखो–

अनुकूल भाग्य अन्य द्वीप से भी, समृद्ध के मध्य से भी और दिशा के छोर से भी अभीष्ट को लाकर तुरन्त मिला देता है॥6॥

(नेपथ्ये)

साधु, भरतपुत्र, साधु। एवमेतत्। (कः संदेहः। ('द्वीपात्'–(1/6) इत्यादि पठति)

सूत्रधारः – (आकर्ण्य नेपथ्याभिमुखमवलोक्य सहर्षम्) आर्ये, नन्वयं मम यवीयान्भ्राता गृहीतयौगन्धरायणभूमिकः प्राप्त एव। तदेहि। आवामपि नेपथ्यग्रहणाय सज्जीभवावः।

(इति निष्क्रान्तौ) (इति प्रस्तावना)

(नेपथ्य में)

ठीक है, भरतपुत्र, ठीक है। ऐसा ही है। क्या सन्देह है? 'द्वीपादन्यस्माद्' इत्यादि श्लोक का पाठ करता है)।

सूत्रधार – (सुनकर, नेपथ्य की ओर देखकर, हर्ष से) आर्ये, यह मेरा छोटा भाई यौगन्धरायण की भूमिका धारण करके आ ही गया। तो आओ हम भी वेष–विन्यास के लिए तैयार होएं।

(दोनों निकल जाते हैं)

प्रस्तावना समाप्त

(ततः प्रविशति यौगन्धरायणः = यौगन्धरायण प्रवेश करता है)

यौगन्धरायणः – एवमेतत्। कः सन्देहः? (द्वीपादन्यस्मादिति पुनः पठित्वा) अन्यथा क्व सिद्धादेशप्रत्ययप्रार्थितायाः सिंहलेश्वरदुहितः समुद्रे यानभङ्गमग्नोत्थिताया फलकासादनं क्व च कौशाम्बीयेन वणिजा सिंहलेभ्यः प्रत्यागच्छता तदवस्थायाः संभावनं रत्नमालाचिह्नायाः प्रत्यभिज्ञानादिहानयनं च। (सहर्षम्) सर्वथा स्पृशन्ति नः वामिनमभ्युदयाः। (विचिन्त्य) मयापि चैनां देवीहस्ते सगौरवं निक्षिपता युक्तमेवानुष्ठितम्। श्रुतं च मया–बाम्रव्योऽपि कञ्चुकी सिंहलेश्वरामात्येन वसुभूतिना सह कथं कथमपि समुद्रादुत्तीर्य कोशलोच्छित्तये गतवता रुमण्वता मिलित इति। तदेवं निष्पन्नप्रायमपि प्रभुप्रयोजनं न मे धृतिमावहतीति कष्टोऽयं खलु भृत्यभावः। कुतः–

प्रारम्भेऽस्मिन्स्वामिनो वृद्धिहेतौ दैवेनेत्थं दत्तहस्तावलम्बे।
सिद्धेर्भ्रान्तिर्नास्ति सत्यं तथापि स्वेच्छाचारी भीत एवास्मि भर्तुः॥7॥

टिप्पणी–

प्रारम्भे – कर्म में उद्योग में। पु. भाववाचक संज्ञा।

स्वेच्छाचारी – स्व + इच्छा + चल् + णिनि (इन्)। यह 'परिन्यास' नामक मुखसन्धि का अङ्ग है। यहाँ शालिनी छन्द प्रयुक्त हुआ है।

यौगन्धरायण – ऐसा ही है। क्या सन्देह? ('द्वीपादन्यस्माद्' इत्यादि श्लोक पुनः पढ़कर) नहीं तो, कहाँ सिद्ध के वचन के विश्वास से मांगी गई, समुद्र में जहाज के टूट जाने से डूब कर बची हुई, सिंहल देश के राजा की पुत्री का तख्ते को पा लेना और कहाँ सिंहल देश से लौटने वाले कौशाम्बी-निवासी व्यापारी द्वारा उस दशा वाली की रक्षा और रत्नमाला के चिह्न वाली को पहचान लेने के कारण यहाँ लाना। हर्ष के साथ सबतरह हमारे स्वामी को अभ्युदय प्राप्त हो रहे हैं। सोचकर और मैंने भी इसे आदरपूर्वक महारानी के हाथों में सौंप कर ठीक ही किया है और मैंने सुना है कि-कञ्चुकी बाभ्रव्य भी सिंहल के राजा के मन्त्री वसुभूति के साथ किसी प्रकार समुद्र से निकल कर कोशल के नाश के लिये गए हुए रूमण्वान् से मिल गया है तो इस प्रकार लगभग सम्पन्न होता हुआ भी प्रभु का कार्य मुझे सन्तोष नहीं देता। सेवक होना, निश्चय ही, बड़ा कष्टकारी है। क्योंकि-

स्वामी की वृद्धि के निमित्तभूत, दैव के द्वारा इस प्रकार हाथ का सहारा दिये गए इस उद्योग के विषय में, सचमुच सफलता में कोई सन्देह नीं है। तब भी, अपनी इच्छानुसार आचरण करने वाला मैं स्वामी से डरा हुआ ही हूँ॥7॥

यौगन्धरायणः – (आकर्ण्य) अये, यथायमभिहन्यमानमृदुमृदङ्गानुगतसंगीतमधुरः पुरः पौराणां समुच्चरति चर्चरीध्वनिस्तथा तर्कयामि यदेनं मदनमहमहीयांसं पुरजनप्रमोदमवलोकयितुं प्रासादाभिमुख प्रस्थितो देव इति। (ऊर्ध्वमवलोक्य) अये, कथमधिरूढ एव देवः प्रासादम्। य एषः-

यौगन्धरायण – (सुनकर) अरे! जैसे कि यह सामने पीटे जाते हुए मृदुल शब्द करने वाले मृदंगों के साथ गाये गीतों के कारण मनोहारी, नागरिकों की करतल ध्वनि बढ़ रही है, उससे सोचता हूँ कि देव मदनमहोत्सव के कारण बढ़े हुए, नगर निवासियों के उल्लास को देखने के लिए राजमहल की ओर चल पड़े हैं। (ऊपर की ओर देखकर) अरे कैसे! महाराज राजमहल पर चढ़ भी गये। जो यह-

विश्रान्तविग्रहकथो रतिमाञ्जनस्य चित्ते वसन्प्रियवसन्तक एव साक्षात्।
पर्युत्सुको निजमहोत्सवदर्शनाय वत्सेश्वरः कुसुमचाप इवाभ्युपैति॥8॥

टिप्पणी–

अनुरागवान्, प्रजा के हृदय में समाये हुए, वत्स देश के महाराज हैं, जिनकी युद्ध की बात शान्त हो गई है और जिन्हें वसन्तक प्रिय है, वह मानो, साक्षात् कामदेव ही-जिसके शरीर की कथा समाप्त हो गई है, जिसकी रति नाम की पत्नी है, जो लोगों के चित्त में वास करता है और वसन्त ऋतु जिसका सखा है-अपने महोत्सव (मदन-महोत्सव) को देखने के लिये लालायित होकर सामने आ रहे हैं। तो अब घर जाकर शेष कार्य की चिन्ता करूँ। (बाहर चला जाता है)।

विश्रान्त – 1. विग्रह = युद्ध, शत्रुओं के अभाव से जिसकी युद्ध की कथा समाप्त हो गई है, 2. विग्रह = शरीर, शिव ने कामदेव के शरीर को भस्म कर दिया था।

रतिमान् – 1. प्रजा से प्रेम करने वाला, 2. रति = कामदेव की पत्नी।

निजमहो. – निज = अपना, 1. क्योंकि उसके राज्य में मनाया जाता था। 2. क्योंकि कामदेव की पूजा के लिये मनाया जाता था।

अभ्युपैति – सामने आ रहा है, अभि + उप + इण (गतौ)।

यहाँ श्लेष और उत्प्रेषा अलङ्कारों का परस्पर अङ्गाङ्गिभाव होने से सङ्कर है। वर्ण-साम्य के कारण अनप्रास अलङ्कार भी है। वसन्ततिलका छन्द।

तद्यावद्गृहं गत्वा कार्यशेषं चिन्तयामि। (इति निष्क्रान्तः)

(इति विष्कम्भकः = विष्कम्भक समाप्त)

(नेपथ्य में कलकल ध्वनि)

(ततः प्रविशत्यासनस्थो गृहीतवसन्तोत्सववेषो राजा विदूषकश्च)

राजा – (सहर्षमवलोक्य) सखे वसन्तक!

विदूषकः – आणवेदु भवं। (आज्ञापयतु भावान्।)

राजा–

राज्यं निर्जितशत्रु योग्यसचिवे न्यस्तः समस्तो भरः
सम्यक्पालनलालिताः प्रशमिताशेषोपसर्गाः प्रजाः।
प्रद्योतस्य सुता वसन्तसमयस्त्वं चेति नाम्ना धृतिं
कामः काममुपैत्वयं मम पुनर्मन्ये महानुत्सवः ॥9 ॥

टिप्पणी –

उपसर्ग – उपद्रव, मुसीबत।

कामम् – चाहे जितना, भले ही।

नाम्ना – नाम से; 'मदन-उत्सव' में अपने नाम के अक्षरों का सादृश्य होने से। सचमुच नायक का उत्सव है, इसकी स्थापना में 'राज्यं निर्जितशत्रु' आदि पदों को हेतु रूप में रखा गया है, इसलिए काव्यलिङ्ग अलङ्कार। यहाँ शार्दूलविक्रीडित छन्द है।

(आसन पर स्थित और वसन्तोत्सव का वेष धारण किये राजा विदूषक के साथ प्रवेश करता है।)

राजा–(हर्ष के साथ देखकर) मित्र वसन्तक।

विदूषक–आज्ञा कीजिये।

राजा–(यह) राज्य है, जिसमें सब शत्रुओं को जीत लिया है; सारा भार योग्य मन्त्री पर रख दिया है; प्रजायें, जिनके सब उपद्रव शान्त कर दिये गये हैं, भलीभाँति रक्षा द्वारा वृद्धि को प्राप्त हैं, प्रद्योत की पुत्री (वासवदत्ता की पत्नी) है; वसन्त ऋतु का समय है और तुम अनुकूल मित्र हो, इससे कामदेव मदनमहोत्सव नाम के कारण सन्तोष भले ही पा लेवे, लेकिन मैं समझता हूँ कि यह महान् उत्सव मेरा ही है ॥9 ॥

विदूषकः–(सहर्षम्) भो वअस्स, एव्वं ण्णेदं। अहं उण जाणामि ण भवदो ण कामदेवस्स मम ज्जेव्व, एकस्स बम्हणस्स अअं मअणमहूसवो जस्स पिअवअस्सेण एव्वं, मन्तींअदि। (विलोक्य) ता किं इमिणा। पेक्ख दाव इमस्स महुमत्तकामिणीजणसअंगाहगहिदसिङ्गकजलप्पहार-णच्चन्तणाअरजण-जणिदकोदूहलस्स समन्तदो घुम्मन्तमद्दलुद्दामचञ्चरीसद्दमुहररच्छामुहसोहिणो पइण्णपडवास-पुञ्जपिञ्ज-रिज्जन्तदसदिसामुहस्स ससिरीअदं मअणमहूस्सवस्स।

(भो वयस्य, एवं न्विदम्। अहं पुनर्जानामि न भवतो न कामदेवस्य ममैवैकस्य ब्राह्मणस्यायं मदनमहोत्सवो यस्य प्रियवयस्येनैवं मन्त्र्यते। तत्किमनेन। प्रेक्षस्व तावदेतस्य मधुमत्तकामिनीजनस्वयंग्राहगृहीत-शृङ्गकजलप्रहारनत्यन्नागर-जनजनितकौतूहलस्य समन्ततः शब्दायमानमर्दलोद्दामचर्चरीशब्दमुखर-रथ्यामुखशोभिनः प्रकीर्णपटवासपुञ्ज-पिञ्जरीकृतदशदिशामुखस्य सश्रीकतां मदनमहोत्सवस्य।)

विदूषक–(हर्ष के साथ) हे मित्र, हाँ ऐसा हो सकता है। लेकिन मुझे तो लगता है कि यह मदन महोत्सव न आपका है और न ही कामदेव का, बल्कि अकेले मुझ ब्राह्मण का है, जिसका प्रिय मित्र इस

प्रकार कह रहा है। (देखकर) खैर, इससे क्या? मद्य से मस्त सुन्दरियों द्वारा स्वयं पकड़े गये और पिचकारियों के जल के प्रहार से नाचते हुए नगर निवासियों द्वारा कुतूहल उत्पन्न करने वाले, चारों ओर बजते हुए मृदंगों के कारण प्रचण्ड चर्चरी ध्वनि से गूंजती हुई सड़कों के मोड़ों से शोभा देने वाले और फेंके गये गुलाल के पुञ्ज से दसों दिशाओं के मुखों को पीला कर देने वाले इस मदन-महोस्व की शोभा को तो देखो।

राजा – (समन्तादवलोक्य) अहो, परां कोटिमधिरोहति प्रमोदः पौराणाम्। तथा हि-

कीर्णैः पिष्टातकौघैः कृतदिवसमुखैः कुङ्कुमक्षोदगौरै
र्हेमालङ्कारभाभिर्भरनमितशिखैः शेखरैः कैङ्किरातैः।
एषा वेषाभिलक्ष्यस्वविभवविजिताशेषवित्तेशकोशा
कौशाम्बी शातकुम्भद्रवखचितजनेवैकपीता विभाति॥10॥

पिष्टातकौघैः–पटवास की राशि से।

क्षोद–(पु.) चूर्ण।

भा–कान्ति।

कंङ्किरातैः–किङ्किरात (अशोक) के पुष्पों के बने।

वेष–वस्त्र और आभूषण।

कौशाम्बी के वैभव के उत्कर्ष का वर्णन होने के कारण 'उदात्त' अलङ्कार और शातकुम्भद्रवखचितत्व की पीतत्व के हेतु रूप में कल्पना करने के कारण 'उत्प्रेक्षा' अलङ्कार है। यहाँ स्रग्धरा छन्द है।

राजा–(चारों ओर देखकर) आहा! नागरिकों का उल्लास चरम-सीमा को पहुँच रहा है। क्योंकि-

केशर के चूर्ण से पीले, अतः दिन को उषाकाल में परिणत करने वाले, फेंके गये, सुगन्धित चूर्ण की राशियों से, स्वर्ण के आभूषणों की कान्तियों से और भार से सिरों को झुका देने वाले अशोक पुष्पों के शिरो-भूषणों से यह कौशाम्बी (नगरी), जिसने (नागरिकों के) वेष से प्रकट होने वाले अपने ऐश्वर्य कुबेर के सम्पूर्ण कोश को जीत लिया है और जिसके निवासी जन, मानो, स्वर्ण के रस से लिप्त हैं, पीली ही पीली दिखती है॥10॥

अपि च

धारायन्त्रविमुक्तसंततपयः पूरप्लुते सर्वतः
सद्यः सान्द्रविमर्दकर्दमकृतक्रीडे क्षणं प्राङ्गणे।
उद्दामप्रमदाकपोलनिपतत्सिन्दूररागारुणैः ।
सैन्दूरीक्रियते जनेन चरणन्यासैः पुरः कुट्टिमम्॥11॥

और भी-

सब ओर पिचकारियों से छूटती हुई अविरत जल-धाराओं से भरे हुए और तभी अत्यधिक विमर्दन से उत्पन्न पङ्क में की गई क्रीडा वाले आंगन में लोगों द्वारा अत्यधिक मत्त स्त्रियों के कपोलों से गिरते हुए सिन्दूर के वर्ण से लाल पद-चिह्नों से वह सामने फर्श क्षण भर सिन्दूर वर्ण का क्रिया जा रहा है॥11॥

टिप्पणी–

संतत–सम् + तन् + क्त।

इस श्लोक में अनुप्रास अलङ्कार और शार्दूलविक्रीडित छन्द है।

विदूषकः–(विलोक्य) एवं पि दाव सुविअद्धजणभरिदसिङ्गकजलप्पहारमुक्क - सिक्कारमणोहरं वारविलासिणीजणविलसिदं आलोएदु पिअवअस्सो (एतदपि तावत्सुविदग्धजनभरितशृङ्गकजल-प्रहारमुक्तसीत्कारमनोहरं वारविलासिनीजनविलसित-मालोकयतु प्रियवयस्यः।)

विदूषक–(देखकर) प्रिय मित्र वाराङ्गनाओं के विलास को तो देखो जो कि चतुर जनों द्वारा भरी हुई पिचकारी के जल के प्रहार के कारण छोड़ी गई सी-सी की ध्वनि से मनोहारी है।

राजा–(विलोक्य) वयस्य, सम्यग्दृष्टं भवता। कुतः–

अस्मिन्प्रकीर्णपटवासकृतान्धकारे।
दृष्टो मनाङ्मणिविभूषणरश्मिजालैः।
पातालमुद्यतफणाकृ तिशृङ्गकोऽयं
मामद्य संस्मरयतीह भुजङ्गलोकः॥12॥

राजा – (देखकर) मित्र, तुमने खूब देखा! क्योंकि–

बिखेरे गये गुलाल से किये गये इस अन्धकार में मणि जटित आभूषणों की किरण-समूह से कुछ-कुछ दिख पड़ने वाला, सर्प के कण के आकार वाली पिचकारी उठाये हुए, यह कामीजनों का समूह अन्य अर्थ-सर्पों का समूह आज मुझे पाताल की याद दिला रहा है।

टिप्पणी–

उद्यत–उद् + यत् + क्त।

संस्मरयति–सम् + स्मृ + णिच् + तिप्।

इस श्लोक में श्लेष अलङ्कार और वसन्ततिलका छन्द है।

विदूषकः–(विलोक्य) भो वअस्स, पेक्ख पेक्ख। एसा क्खु मअणिआ मअणवसविसण्ठुलं वसन्ताभिणअं णच्चन्ती चूदलदिआए सह इदो ज्जेव्व आअच्छदि। (भो वयस्य, प्रेक्षस्व प्रेक्षस्व। एषा खलु मदनिका मदनवशविसंष्ठुलं वसन्ताभिनयं नृत्यन्ती चूतलतिकया सहेत एवागच्छति।)

विदूषक–(देखकर) ए मित्र, देखो, देखो। यह मदनिका काम-पीड़ित होने से लड़खड़ाते हुए वसन्त का अभिनय करती हुई चूतलतिका के साथ इधर ही आ रही है।

(ततः प्रविंशतो मदनलीलां नाट्यन्त्यौ द्विपदीखण्डं गायन्त्यौ चेट्यौ)

चेट्यौ–

कुसुमाउहपिअदूअओ मउलाइदबहुचूअओ।
सिढिलिअमाणग्गहणओ वाअदि दाहिणपवणओ॥13॥

(कुसुमायुधप्रियदूतको मुकुलायितबहुचूतकः।
शिथिलितमानग्रहणको वाति दक्षिणपवनकः॥13॥)

(मदनलीला का नाट्य करती हुई तथा द्विपदी-खण्ड गाती हुई दो चेटी प्रवेश करती हैं)

दोनों चेटी–

कामदेव का प्रिय दूत, अनेक आम्र वृक्षों को मुकुलित करने वाला, (मानिनी सुन्दरियों के) प्रणय-कलह को शिथिल करने वाला, दक्षिण पवन बह रहा है॥13॥

टिप्पणी–

मुकुलायित – मुकुल + अय् + क्त।

बिअसिअबउलासोअओ कंक्खिअपिअजणमेलओ।
पडिबालणासमत्थओ तम्मइ जुवईसत्थओ॥14॥

(विकसितबकुलाशोकक: काङ्क्षितप्रियजनमेलक:।
पतिपालनासमर्थकस्ताम्यति युवतिसार्थक:॥14॥)

मौलसरी तथा अशोक को विकसित करने वाला, प्रिय जनों के साथ की इच्छा करने वाला, प्रिय के आगमन की प्रतीक्षा करने में असमर्थ युवतियों का समूह व्याकुल हो रहा है॥14॥

मेलक – मेल + क–स्वार्थे क:।

इह पढम महुमासो जणस्स हिअआइं कुणइ मिउलाई।
पच्छा विज्झइ कामो लद्धप्पसरेहिं कुमुमबाणेहिं॥15॥

(इह प्रथमं मधुमासो जनस्य हृदयानि करोति मृदुलानि।
पश्चाद्विध्यति कामो लब्धप्रसरै: कुसुमबाणै:॥15॥

यहाँ वसन्त आरम्भ होने पर पहले वसन्त मास लोगों के हृदयों को कोमल कर देता है, तब बाद में, कामदेव अवसर पाए हुए पुष्प–बाणों से बींध देता है॥15॥

टिप्पणी–

मधुमास–मधो: + मास:–षष्ठी तत्पुरुष समास।

यहाँ उत्प्रेक्षा अलङ्कार तथा स्रग्धरा छन्द है।

राजा–(निर्वर्ण्य सविस्मयम्) अहो निर्भर: क्रीडारस: परिजनस्य तथाहि–

स्रस्त: स्रग्दामशोभां त्यजति विरचितामाकुल: केशपाश:
क्षीबाया नूपुरौ च द्विगुणतरमिमौ क्रन्दत: पादलग्नौ।
व्यस्त: कम्पानुबन्धादनवरतमुरो हन्ति हारोऽयमस्या:
क्रीडन्त्या: पीडयेव स्तनभरविनमन्मध्यभङ्गानपेक्षम्॥16॥

राजा–(आश्चर्य से देखकर) आह! सेवकों को (तो) क्रीडा का बड़ा आनन्द आ रहा है। जैसे कि–

मधु–पान से मत्त हुई और स्तनों के भार से झुकते हुए कटिभाग के टूटने की चिन्ता न करके नाचती हुई इस सेविका का खुला हुआ अत: बिखरा हुआ जूड़ा, मानो पीडा के कारण, किये गए पुष्प–मालाओं के प्रसाधन को छोड़ रहा है; ये पैरों में बंधे हुए दोनों नूपुर मानो पीडा के कारण और दुगना चिल्ला रहे हैं; कम्पन की निरन्तरता के कारण झूलता हुआ यह हार मानो पीडा से अनवरत छाती पीट रहा है॥16॥

विदूषक:–भो वअस्स, अहं पि एवाणं मज्झे गदुअ गाअन्तो मअणमहूस्सवं माणइस्सं। (भो वयस्य, अहमप्येतासां मध्ये गत्वा नृत्यन् गायन् मदनमहोत्सवं मानयिष्यामि।)

विदूषक–ए मित्र, मैं भी इन दोनों के बीच में जाकर नाचता–गाता मदन महोत्सव मनाऊँगा।

राजा–(सस्मितम्) वयस्य एवं क्रियताम्।

राजा–(मुस्कराते हुए) मित्र, ऐसा (ही) करो।

विदूषक:–जं भवं आणवेदि। (उत्थाय चेट्योर्मध्ये नृत्यन्) भोदि मअणिए मोदि चुदलदिए मं पि एद चच्चरिअं सिक्खावेध। (यद्भवानाज्ञापयति। भवति मदनिके भवति चूतलतिके। मामप्येतच्चर्चरिकं शिक्षयतम्।)

विदूषक–(उठकर, चेटियों के बीच में नाचते हुए) श्रीमती मदनिका जी, श्रीमती चूतलतिका जी, मुझे भी यह चर्चरी सिखा दो।

उभे–हवास ण क्खु एसा चच्चरी। (हताश, न खलु एषा चर्चरी।)

दोनों–(जोर से हसकर) मूर्ख यह चर्चरी नहीं है।

विदूषकः–ता किं खु एवं। (ततिंक खल्वेतत्।)

विदूषक–तो, यह क्या है?

मदनिका–दुवदीखण्डं खु एदं। (द्विपदीखण्डं खल्वेतत्।)

मदनिका–यह तो द्विपदी-खण्ड है।

विदूषकः–(सहर्षम्) किं एदिणा खण्डेण मोअआ करिअन्ति। (किमेतेन खण्डेन मोदकाः क्रियते।)

विदूषक–(हर्ष से) क्या इस खण्ड (= खांड) से लड्डू बनाये जाते हैं?

मदनिका–(विहस्य) णहि णहि। पढीअदि क्खु एवं। (नहि नहि पठ्यते खल्वेतत्।)

दोनों चेटियाँ-(जोर से हंसकर) नहीं, नहीं। यह तो पढ़ी जाती है।

विदूषकः–(सविषादम्) जइ पढीअदि ता अलं मम एदिणा। वअस्ससस्स सहासं जेव्व गमिस्सम्। (गन्तुमिच्छति।) (यदि पठ्यते तदलं ममेतेन। वयस्यस्य सकाशमेव गमिष्यामि।)

विदूषक–(विषाद से) यदि पढ़ी जाती है तो मेरे लिए इससे बस करो। मैं तो प्रिय मित्र के समीप ही जाता हूँ। (जाना चाहता है)

उभे–(हस्ते गृहीत्वा) एहि कीलम्ह। वसन्तअ कहिं गच्छसि। (इति बहुविधं वसन्तकमाकर्षतः)। (एहि क्रीडामः। वसन्तक, कुत्र गच्छसि।)

दोनों–(हाथ पकड़कर) आओ, खेलें। वसन्तक, कहाँ जाते हो? (वसन्तक को इधर-उधर खींचती है)

विदूषकः–(हस्तमाकृष्य प्रपलाय्य राजानमुपसृत्य।) वअस्स णच्चिदोह्मि। णहि णहि। कीलिअ पलाइदोम्हि। (वयस्य नर्तितोऽस्मि। नहि नहि, क्रीडित्वा पलायितोऽस्मि।)

विदूषक–(हाथ खींचकर, दौड़कर राजा के पास जाकर) प्रिय मित्र, मैं नाच लिया। ना, ना खेलकर भाग आया।

राजा–साधु कृतम्।

राजा–अच्छा किया।

चूतलतिका–हञ्जे मअणिए चिरं क्खु अम्हेहिं कीलिदम्। (हञ्जे मदनिके रगं खल्वावाभ्यां क्रीडितम्।) ता एहि णिवेदेम्ह दाव भट्टिणीए संदेसं महाराअस (तदेहि निवेदयावस्तावत् भर्त्र्याः संदेशं महाराजय।)

चूतलतिका–सखी मदनिका, हम दोनों बहुत देर खेल लीं। तो आओ अब महाराज को स्वामिनी का सन्देश निवेदन कर दें।

मदनिका–सहि, एवं करेम्ह। (सखि, एवं कुर्वः।)

मदनिका–सखी, ऐसा ही करें।

चेट्यौ–(परिक्रम्योपसृत्य च) जेदु जेदु भट्टा। भट्टा, देवी आणवेदि-(इत्यर्धोक्ते लज्जां नाटयन्त्यौ) णहि णहि। विण्णवेदि। (जयतु जयतु भर्ता। भर्तः, देव्याज्ञापयति। नहि नहि। विज्ञापयति।)

दोनों चेटी—(घूमकर और समीप जाकर) स्वामी की जय हो। स्वामी, महारानो आज्ञा देती है.... (यह आधा कह कर लज्जा का नाट्य करती हुई) ना, ना, निवेदन करती है।

राजा—(विहस्य सादरम्) मदनिके, नन्वाज्ञापयतीत्येव रमणीयम्। विशेषतोऽद्य मदनमहोत्सवे। तत्कथय, किमाज्ञापयति देवी।

राजा—(हंसकर, आदर से) मदनिका, 'आज्ञा देती हैं' बस यही सुन्दर है, विशेषकर आज मदन–महोत्सव में। तब बतलाओ महारानी क्या आज्ञा देती है।

विदूषकः—आः दासीए धीए, किं देवी आणवेदि। (आः दास्याः पुत्रि, किं देव्याज्ञापयति।

विदूषक—ए, दासी की बेटी, क्या देवी आज्ञा दे रही है।

चेट्यौ—एव्वं देवी विण्णवेदि–अज्ज क्खु मए मअरन्दुज्जाणं गदुअ रत्तासोअपाअवतलसंट्ठाविदस्स भअवदो कुसुमाउहस्स पूजा णिव्वत्तइदव्वा। तहिं अज्जउत्तेण संणिहिदेण होदव्वत्ति। (एवं देवी विज्ञापयति–अद्य खलु मया मकरन्दोद्यानं गत्वा रक्ताशोकपादपतलसंस्थापितस्य भगवतः कुसुमायुधस्य पूजा निर्वर्तयितव्या। तत्र आर्यपुत्रेण संनिहितेन भवितव्यमिति।)

दोनों चेटी—देवी यह निवेदन करती है–कि आज मुझे मकरन्द नाम के उद्यान में जाकर रक्ताशोक वृक्ष के नीचे प्रतिष्ठापित भगवान् कामदेव की पूजा करनी है। वहाँ आर्यपुत्र उपस्थित होवें।

राजा—(सानन्दम्) वयस्य ननु वक्तव्यमुत्सवादुत्सवान्तरमापतितमिति।

राजा—(आनन्द के साथ) प्रिय मित्र, अब तो यह कहना चाहिए कि एक उत्सव के पश्चात् दूसरा उत्सव आ गया।

विदूषकः—भो वअस्स ता उट्ठेहि। तहिं जेव्व गच्छम्ह जेण तहिं गदस्स मम वि वम्हणस्स सोत्थिवाअणं किंवि भविस्सदि। (भो वयस्य, तस्मादुत्तिष्ठ। तत्रैव गच्छावः। येन तत्र गतस्य ममापि ब्राह्मणस्य स्वस्तिवाचनं किमपि भविष्यतीति।)

विदूषक—हे प्रिय मित्र, तब उठो। वहीं चलें, क्योंकि वहाँ जाने पर मुझ ब्राह्मण का भी कुछ स्वस्तिवाचन हो जायेगा।

राजा—मदनिके, गम्यतां देव्यै निवेदयितुमयमहमागत एव मकरन्दोद्यानमिति।

राजा—मदनिका, जाओ, महारानी से निवेदन करो कि बस मैं यह मकरन्द उद्यान में आ ही गया।

चेट्यौ—जं भट्टा आणवेदि। (इति निष्क्रान्ते)। (यद्भर्ताऽऽज्ञापयति।)

दोनों चेटी— जो स्वामी आज्ञा दें। (यह कहकर चली जाती है।

राजा—वयस्य, एहि। अवतरावः। (उभौ प्रासादावतरणं नाटयतः)। वयस्य, आदेशय मकरन्दोद्यानस्य मार्गम्।

राजा—प्रिय मित्र, आओ। नीचे चलें। (दोनों महल स उतरने का अभिनय करते हैं) प्रिय मित्र, मकरन्द उद्यान का मार्ग बतलाओ।

विदूषकः—जं वं आणवेदि। एदु एदु भवं। (यद्भवानाज्ञापयति। एत्वेतु भवान्।)

विदूषक—जो आप आज्ञा देवें। चलिये, चलिये।

(इति परिक्रामतः = दोनों घूमते हैं)

विदूषकः—(अग्रतोऽवलोक्य) भो एवं तं मअरन्दुज्जाणं। ता एहि। पविसम्ह। (भो एतत्तन्मकरन्दोद्यानम्। तदेहि। प्रविशवः।)

विदूषक–(आगे देखकर) अरे, यह वह मकरन्द उद्यान है। तो आओ, अन्दर चलें।

(इति प्रविशतः = दोनों प्रवेश करते हैं)

विदूषकः–(विलोक्य सविस्मयम्) भो वअस्स, पेक्ख पेक्ख। एदं क्खु तं मलअमारु-दान्दोलणपहुल्लन्तसहआरमञ्जरीरेणुपडलपडिबद्धपडविदाणं मत्तमहुअरमुक्कझंकार-मिलिदमहुरकोइला-रावसंगीदसुदिसुहं तुहागमणदंसिदाअरं विअ मअरन्दुज्जाणं लक्खीअदि। ता पेक्खदु भवं। (भो वयस्य प्रेक्षस्व। एतत् खलु तन्मलयमारुतान्दोलनप्रफुल्लत्सहकारमञ्जरीरेणुपटलप्रतिबद्धपटवितानं मत्तमधुकरमुक्त-झङ्कारमिलितमधरकोकिलारावसंगीतश्रुतिसुखं तवागमनदर्शितादरमिव मकरन्दोद्यानं लक्ष्यते। तत्प्रेक्षतां भवान्।)

विदूषक–(देखकर, आश्चर्य से) ए प्रिय मित्र, देखो, देखो। यह मकरन्द उद्यान, जिसमें मलय की वायु द्वारा झकझोर से खिलते हुए आम के बौर के पराग-समूह से शामियाना ताना गया है और जो मत्त भौंरों से की गई झंकार से मिली हुई कोयलों की मीठी कूक के संगीत से श्रोत्रों को सुखदायी है, मानो, तुम्हारे आने पर आदर दिखलाया हुआ प्रतीत होता है। इसलिये आप देखें।

राजा–(समन्तादवलोक्य) अहो रम्यता मकरन्दोद्यानस्य। इह हि–

उद्यद्विद्रुमकान्तिभिः किसलयैस्ताम्रां त्विषं बिभ्रतो
भृङ्गालीविरुतैः कलैरविशदव्याहारलीलाभृतः।
घूर्णन्तो मलयानिलाहतिचलैः शाखासमूहैर्मुहु-
र्भ्रान्तिं प्राप्य मधुप्रसङ्गमधुना मत्ता इवामी द्रुमाः ॥17॥

राजा–(चारों ओर देखकर) आ! हा! मकरन्द उद्यान की रमणीयता (आश्चर्यकारी है)। क्योंकि यहाँ–

अब वसन्त ऋृतु के संपर्क अन्य अर्थ–मद्य के संपर्क को पाकर उगते हुए मूंगों की कान्ति वाले नूतन पल्लवों से लाल कान्ति को धारण करते हुए, मधुर भ्रमर-माला की गुंजार से अस्पष्ट प्रलाप की चेष्टा को धारण करने वाले और मलय-वायु के आघात से चञ्चल शाखाओं के समूहों से बार-बार झूमते हुए, वे वृक्ष, मानो, मत्त-से प्रतीत होते हैं॥17॥

टिप्पणी–

आहति–आ + हन् + क्तिन् आघात।

इस श्लोक में श्लेष तथा उत्प्रेक्षा अलङ्कार और शार्दूलविक्रीडित छन्द है।

अपि च

मूले गण्डूषसेकासव इव बकुलैर्वास्यते पुष्पवृष्ट्या।
मध्वाताम्रे तरुण्या मुखशशिनि चिराच्चम्पकान्यद्यः भान्ति।
आकर्ण्याशोकपादाहतिषु च रणतां निर्भरं नूपुराणां
झङ्कारस्यानुगीतैरनुग्णनयिवारभ्यते भृङ्गसार्थैः ॥18॥

और भी–

मौलसरी के वृक्ष जड़ से मुंह में भर-भरकर सींचे गये मद्य को पुष्प वृष्टि से, मानो सुगन्धित कर रहे हैं, सुन्दरी युवती के मुखरूपी चन्द्रमा के मद्य से आरक्त होने पर चिर काल बाद आज चम्पा के पुष्प शोभित हो रहे हैं और भ्रमरों के समूह (युवतियों के) अशोक वृक्षों को पैर से ताडन करने में जोर से बजते हुए नूपुरों की झंकार को सुनकर किये गये अपने गुंजारों से, मानो युवतियों के नूपुरों की झंकार को गुनगुना रहे हैं॥18॥

टिप्पणी–

यहाँ उत्प्रेक्षा अलङ्कार है तथा स्रग्धरा छन्द आया है।

विदूषकः–(श्रुत्वा) भो वअस्स, ण एदे महुअरा णेउरसद्दं अणुहरन्ति। णेउरसद्दो ज्जेव्व एसो देवीए परिअणस्स। (भो वयस्य, नैते मधुकरा नूपुर-शब्दमनुहरन्ति। नूपुरशब्द एवैष देव्याः परिजनस्य।)

विदूषक–(सुनकर) हे मित्र, यह भौंरे नूपुर की ध्वनि का अनुकरण नहीं कर रहे, (अपितु) यह महारानी की दासियों के नूपुरों की ध्वनि ही है।

राजा–वयस्य सम्यगुपलक्षितम्।

(ततः प्रविशति वासवदत्ता, काञ्चनमाला, पूजोपकरणहस्ता सागरिका, विभवतश्च परिवारः)

राजा – मित्र, तुमने ठीक पहचाना।

(तब वासवदत्ता, काञ्चनमाला हाथ में पूजा की सामग्री लिये सागरिका और श्रेणी के अनुसार सेवक-समूह प्रवेश करता है)

वासवदत्ता–हञ्जे कञ्चणमाले, आदेसेहि मे मअरन्दुज्जा णस्स मग्गं।

(हञ्जे काञ्चनमाले, आदेशय मे मकरन्दोद्यानस्य मार्गम्।)

वासवदत्ता–सखी काञ्चनमाला, मुझे मकरन्द उद्यान का मार्ग बतलाओ।

काञ्चनमाला–एदु एदु भट्टिणी। (एत्वेतु भर्त्री।)

काञ्चनमाला–स्वामिनी चलें, चलें।

वास.–(परिक्रम्य) हञ्जे कञ्चणमाले, अध केत्तिअ दूरे सो रत्तासोअपाअवो जहिं मए भअवदो कुसुमाउहस्स पूआ णिव्वत्तइदव्वा। (हञ्जे काञ्चनमाले, अथ कियद्दूरे स रक्ताशोकपापो यत्र मया भगवतः कुसुमायुधस्य पूजा निर्वर्तयितव्या।)

वासवदत्ता–(घूमकर) सखी काञ्चनमाला, अब वह रक्ताशोक वृक्ष इतनी दूर है, जहाँ मुझे भगवान् कामदेव की पूजा करनी है।

काञ्चनमाला–भट्टिणि, आसण्णो ज्जेव्व। किं ण पेक्खदि भट्टिणी। इअं क्खु सा णिरन्तरुब्भिण्णकुसुमसोहिणी भट्टिणीए परिग्गहिदा माहवी लदा। एस्सा वि अवरा णोमालिआ लदा जाए अआलकुसुमसमुग्गमद्धालुणा भट्टिणा अणुदिणं आआसीअदि अप्पा। ता एवं अदिक्कमिअ दीसदि ज्जेव सो रत्तासोअपाअवो जहिं देवी पूआं णिव्वत्तइससदि। (भर्त्रि, आसन्न एव। किं न प्रेक्षते भर्त्री। इयं खलु सा निरन्तरोद्भिन्नकुसुमशोभिनी भर्त्र्या परिगृहीता माधवीलता। एषाप्यपरा नवमालिका लता यस्या आकालकुसुमसमुद्रमश्रद्धालुना भर्त्रानुदिनमायास्यत आत्मा। तदेनामतिक्रम्य दृश्यत एव स रक्ताशोकपादपो यत्र देवी पूजां निर्वर्तयिष्यति।)

काञ्चनमाला–स्वामिनी, आ ही गया। क्या स्वामिनी देख नहीं रहीं? निश्चय ही, यह वह घने खिले पुष्पों से शोभा देने वाली, स्वामिनी द्वारा अपनाई गई माधवी लता है और यह दूसरी नवमालिका लता है, जिसके बिना ऋतु पुष्पोद्गम में विश्वास करने वाले स्वामी प्रतिदिन स्वयं को कष्ट दे रहे हैं तो इसे पार करके वह रक्ताशोक वृक्ष दिख ही पड़ रहा है, जहाँ देवी पूजा करेंगी।

वासवदत्ता–ता एहि। तहिं ज्जेव्व लहुँ गच्छम्ह। (तदेहि तत्रैव लघु गच्छामः।)

वासवदत्ता–तो आओ। शीघ्र वही चलें।

काञ्चनमाला–एदु एदु भट्टिणी। (एत्वतु भर्त्री।)

(सर्वाः परिक्रामन्ति = सब घूमती हैं)

काञ्चनमाला–स्वामिनी चलिये, चलिये।

काञ्चनमाला–भट्टिणि, अअं खु सो रत्तासोअपाअवों जहिं देवी पूआं णिव्वत्तइस्सदि। (भर्ति, अयं खलु स रक्ताशोकपादपो यत्न देवी पूजां निर्वर्तयिष्यति।)

काञ्चनमाला–स्वामिनी, यही वह रक्ताशोक वृक्ष है, जहाँ महारानी पूजा करेंगी।

वासवदत्ता–तेण हि मे पूआणिमित्ताइं उवअरणाइं उवणेहि। (तेन हि मे पूजानिमित्तान्युप-करणान्युपानय।)

वासवदत्ता–तब मुझे पूजा के लिये सामग्री दो।

सागरिका–(उपसृत्य) भट्टिणि, एदं सव्वं सज्जम्। (भर्ति, एतत्सर्व सज्जम्।)

सागरिका–(समीप जाकर) स्वामिनी, यह सब तैयार है।

वासवदत्ता–(निरूप्यात्मगतम्) अहो पमादो परिअणस्स। जस्स ज्जेव्वं दसण पधादो पअत्तेण रक्खीअदि तस्स ज्जेव्व दिट्ठिगोअरे पडिदा भवे। भोदु। एवं दाव भणिस्सं। (प्रकाशम्) हञ्जे साअरिए, कीस तुमं अज्ज मअणमहूस्सवपुराहीणे परिअणे सारिअं उज्झिअ इध आअदा। ता तहिं जेव्व लहुँ गच्छ। एदं वि सव्वं पूओवअरणं कञ्चणमालाए हत्थे समप्पेहि। (अहो प्रमादः परिजनस्य यस्यैव दर्शनपथात्प्रयत्नेन रक्ष्यते तस्यैव दृष्टिगोचरे पतिता भवेत्। भवतु। एवं तावद्भणिष्यामि। हञ्जे सागरिके, कस्मात्त्वमद्य मदनमहोत्सवपराधीने परिजने सारिकामुज्झित्वेहागता। तत्तत्रैव लघु गच्छ। एतदपि सर्वं पूजोपकरणं काञ्चनमालाया हस्ते समर्पय।)

वासवदत्ता–(देखकर मन ही मन) ओह! सेवकों की लापरवाही! जिसके ही दृष्टि-पथ से प्रयत्नपूर्वक बचाई जा रही है, उसकी ही दृष्टि में पड़ जायेगी। अच्छा, तब ऐसे कहूँगी। (प्रकट में) सखी सागरिका, आज सेवकों मदन-महोत्सव से बे-सुख होते हुए तू सारिका को छोड़कर यहाँ कैसे आ गये। जल्दी से वहीं पहंच और इस सब पूजा की सामग्री को काञ्चनमाला हाथ में सौंप दे।

सागरिका–जं भट्टिणी आणवेदि। (इति तथा कृत्वा कतिचित्पदानि गत्वा आत्मगतम्) सारिआ मए उण सुसंगदाए हत्थे समप्पिदा। एदं वि अत्थि मे पेक्खिदुं कोदूहलं किं जहा तादस्स अन्तेउरे भअवं अणंगो अच्चिअदि इह वि तह ज्जेव किं अण्णहेति। ता अलक्खिदा भविअ पेक्खिस्सं (परिक्रम्यावलोक्य च) ता जाव इह पूआसमो होदि ताव अहं पि भअवन्तं अणंगं ज्जेव्व पूअइदूं कुसुमाइं अवचिणिस्सं। (इति कुसुमावचयं नाटयति)। (यद्भर्त्र्याज्ञापयति सारिका मया पुनः सुसङ्गताया हस्ते समर्पिता। एतदप्यस्ति मे प्रेक्षितुं कौतूहलं किं यथा तातस्यान्तःपुरे भगवाननङ्गोऽर्च्यते, अत्रापि तथैव किमन्यथेति। तस्मादलक्षिता भूत्वा प्रेक्षिष्ये। तद्यावदिह पूजासमयो भवति। तावदहमपि भगवन्तमनङ्गमेव पूजयितुं कुसुमान्यवचेष्यामि।)

सागरिका–जो स्वामिनी आज्ञा दें। (वैसा ही करके और कुछ पद जाकर, अवगत) सारिका तो मैंने सुसङ्गता के हाथ सौंप दी है। फिर, मुझे यह रखने की उत्सुकता है कि पिता के अन्तःपुर में भगवान् कामदेव की जैसे पूजा होती है, क्या यहाँ भी वैसे ही होती है या अन्यथा। इसलिये छिपकर रखूँगी। (घूमकर और देखकर) जब तक यहाँ पूजा का समय होवे, तब तक मैं भो भगवान् कामदेव ही की पूजा के लिये पुष्प चुनती हूँ। (पुष्प चुनने का नाट्य करती है।)

वासवदत्ता–कञ्चणमाले, पडिट्ठावेहि असोअमूले भअवन्तं पज्जुण्णं।

(काञ्चनमाले, प्रतिष्ठापयाशोकमूले भगवन्तं प्रद्युम्नम्)

वासवदत्ता—काञ्चनमाला, अशोक की मूल में भगवान् कामदेव की प्रतिष्ठापना करो।

काञ्चनमाला—जं भट्टिणी आणवेदि। (इति तथा करोति)। (यद्भर्त्र्याज्ञापयति)

काञ्चनमाला—जो स्वामिनी की आज्ञा हो। (वैसा करती है)

विदूषक—भो वअस्स, जधा वीसन्तो णेउरसद्दो तधा तक्केमि आअदा देवी असोअमूलंत्ति। (भो वयस्य, यथा विश्रान्तो नूपुरशब्दस्तथा तर्कयाभ्यागता देव्यशोकम्लमिति।)

विदूषक—हे मित्र, जैसे कि नूपुरों की ध्वनि शांत हो गई है, उससे समझता हूँ कि महारानी अशोक की मूल पर पहुँच गई हैं।

राजा—(अवलोक्य) वयस्य, सम्यगवधारितम्। पश्येयं देवी या किलषा—

कुसुमसुकुमारमूर्तिर्दधती नियमेन तनुतरं मध्यम्।
आभाति मकरकेतोः पार्श्वस्था चापयष्टिरिव ॥19॥

तदेहि। उपसर्पावः। (उपसृत्य) प्रिये वासवदत्ते।

राजा—(देखकर) मित्र, ठीक समझा। देखो, यह महारानी है जो यह–पुष्प के समान कोमल शरीर वाली (और) व्रत-उपवास जो क्षीणतर कटि को धारण करती हुई कामदेव के समीप में स्थित, मानो धनुर्यष्टि सी लगती है॥9॥

तो आओ। पास चलें। (समीप जाकर) प्रिय वासवदत्ता।

वासवदत्ता—(विलोक्य) कधं अज्जउत्तो। जअदु जअदु अज्जउत्तो। एदं आसणं। एत्थ उवविसदु अज्जउत्तो। (कथमार्यपुत्रः। जयतु जयत्वार्यपुत्रः एतदासनं अत्रोपविशत्वार्यपुत्रः।)

(राजा नाट्येनोपविशति)

वासवदत्ता—(देखकर) कैसे! आर्यपुत्र!! आर्यपुत्र की जय हो, जय हो। (लीजिये) यह आसन। आर्यपुत्र इस पर बैठें।

(राजा बैठने का नाट्य करता है)

काञ्चनमाला—भट्टिणि, सहत्थदिणेहिं कुङ्कुमचन्दणथासएहिं सोहिदं कदुअ रत्तासोपाअवं अच्चीअदु भअवं पज्जुण्णो। (भर्त्रि, स्वहस्तदत्तैः कुङ्कुमचन्दन स्थासकैः शोभितं कृत्वा रक्ताशोकपादपमर्च्यतां भगवान्प्रद्युम्नः।)

काञ्चनमाला—स्वामिनी, रक्ताशोक वृक्ष को अपने हाथ लगाये गये केसर के लेप से भूषित करके भगवान् प्रद्युम्न की पूजा कीजिये।

वासवदत्ता—उवणेहि में पूओवअरणाइं। (उपनय मे पूजोपकरणानि।)

वासवदत्ता—पूजा की सामग्री मेरे पास लाओ।

(काञ्चनमालोपनयति। वासवदत्ता तथा करोति = काञ्चनमाला समीप ले जाती है और वासवदत्ता वैसा करती है)

राजा—प्रिये,

राजा—प्यारी,

प्रत्यग्रभज्जनविशेषविविक्तकान्तिः कौसुम्भरागरुचिरस्फुरदंशुकान्ता।
विभ्राजसे मकरकेतनमर्चयन्ती बालप्रवालविटपिप्रभवा लतेव ॥20॥

सद्यः स्नान से विशेष निर्मल कान्ति वाली, कुसुम्भी रंग (में रंगने) से सुन्दर चमकते हुए आंचलवाली, तुम कामदेव की पूजा करती हुई ताजे जल-काञ्चन से विशेष निर्मल कान्ति वाली, कुसुम्भ के पुष्प की-सी लाली से सुन्दर एवं चमचमाती हुई किरणों से रमणीय, नूतन-पल्लवों वाले वृक्ष पर उगी ह, लता के समान शोभा दे रही हो ॥20 ॥

टिप्पणी–

इस श्लोक में श्लेषानुप्राणित उपमा अलङ्कार है तथा वसन्ततिलका छन्द है।

अपि च

स्पृष्टस्त्वयैष दयिते स्मरपूजाव्यापृतेन हस्तेन।
उद्भिन्नापरमृदुतरकिसलय इव लक्ष्यतेऽशोकः ॥21 ॥

और भी–

प्रिये, तुम्हारे द्वारा कामदेव की पूजा में संलग्न हाथ से स्पर्श किया गया अशोक वृक्ष (ऐसा) लगता है कि जिसमें, मानो दूसरा अतिकोमल नूतन-पल्लव फूट आया है ॥21 ॥

अपि च

अनङ्गोऽयमनङ्गत्वमद्य निन्दिष्यति ध्रुवम्।
यदनेन न संप्राप्तः पाणिस्पर्शोत्सवस्तव ॥22 ॥

और भी

आज, निश्चित ही यह कामदेव (अपनी) शरीरहीनता की निन्दा करेगा यह तेरे हाथ के स्पर्श के आनन्द को न प्राप्त हुआ ॥22 ॥

काञ्चनमाला–भट्टिणि, अच्चिदो भअवं पज्जुण्णो। ता करेहि भत्तुणो उइदं पूआसक्कारम्। (भर्त्रि, अर्चितो भगवान् प्रद्युम्नः। तत्कुरु भर्तुरुचितं पूजासत्कारम्।)

काञ्चनमाला–स्वामिनी, भगवान् प्रद्युम्न की पूजा कर ली। अब स्वामी योग्य पूजा-सत्कार कीजिये।

वासवदत्ता–तेण हि उवणेहि मे कुसुमाइं विलेवणं च। (तेन ह्य युपनय मे कुसुमानि विलेपनं च।)

वासवदत्ता–तो पुष्प और अङ्गराग मेरे पास लाओ।

काञ्चनमाला–भट्टिणि, एदं सव्वं सज्जं। (भर्त्रि, एतत् सर्वं सज्जम्।)

काञ्चनमाला–स्वामिनी, यह सब तैयार है।

(वासवदत्ता नाट्येन राजानं पूजयति = वासवदत्ता राजा की पूजा का नाट्य करती है)

सागरिका–(गृहीतकुसुमा) हद्धी हद्धी। कहं कुसुमलोहोक्खित्तहिअआए अदिचिरं ज्जेव ए किदं। ता इमिणा सिन्दुवारविडवेण ओवारिअसरीरा भविअ पेक्खामि (तथा कृत्वा विलोक्य सविस्मयम्) कधं पच्चक्खो एव्व भअवे कुसुमाउहो इह पूआं पडिच्छदि। अम्हाणं तादस्स अन्तेउरे उण चित्तगदो अच्चीअदि। ता अहं वि इमेहिं कुसुमेहिं इह ट्ठिदा ज्जेव्व भअवन्तं कुसुमाउह पूअइस्सं (कुसुमानि प्रक्षिप्य) णमो दे भअवं कुसुमाउह। अमोहदंसणो मे भविस्ससि। (इति प्रणमति)। दिट्ठं जं दिट्ठव्वं। ता जाव ण कोवि मं पेक्खदि दाव ज्जेव्व गमिस। (इति कतिचित् पदानि गच्छति)। (हा धिक् हा धिक् कथं कुसुमलोभोत्क्षिप्तहृदयातिचिरमेव मया कृतम्। तदनेन सिन्धुवारविटपेनापवारितशरीरा भूवा प्रेक्षे। कथं प्रत्यक्ष एव भगवान् कुसुमायुध इह पूजां प्रतीच्छति। अस्माकं तातस्यान्तःपुरे पुनश्चत्रगतोऽर्च्यते।

तदहमप्येभिः कुसुमैरिह स्थितैव भगवन्तं कुसुमायुधं पूजयिष्ये। नमस्ते भगवन् कुसुमायुध। अमोधदर्शनो मे भविष्यसि। दृष्टं यद् द्रष्टव्यभ्। तद्यावनन कोऽपि मां प्रेक्षते तावदेव गमिष्यामि।)

सागरिका–(पुष्प लिए हुए) हाय धिक्कार! हाय धिक्कार!! पुष्पों के लोभ से आकृष्ट हृदय होकर क्यों मैंने बहुत देर कर दी? तो अब इस सिन्धुवार के झुरमुट में शरीर छिपाकर देखती हूँ। (वैसा करके और देखकर, आश्चर्य से) यह क्या? यहाँ भगवान् कामदेव प्रत्यक्ष होकर पूजा ग्रहण करता है! हमारे पिता के अन्त:पुर में तो चित्र में बना हुआ पूजा जाता है! तो मैं भी यहाँ खड़ी रह कर ही इन पुष्पों से भगवान् कामदेव की पूजा करूँगी। (पुष्प फेंक कर) भगवान् कामदेव, तुम्हें प्रणाम। अब तुम मेरे लिये सफल दर्शन वाले होंगे। (इस प्रकार प्रणाम करती है) जो देखना था (वह) देख लिया। इसलिये जब तक कोई मुझे नहीं देखताः तब तक चली जाती हूँ। यह कहकर कुछ पद जाती है।

काञ्चनमाला–अज्ज वसन्तअ, एहि। संपदं तुमं वि सोत्थिवाअणं पडिच्छ।

(आर्य वसन्तक, एहि सांप्रतं त्वमपि स्वस्तिवाचनं प्रतीच्छ।)

काञ्चनमाला–आर्य वसन्तक, आओ। अब तुम भी स्वस्ति-वाचन ग्रहण करो।

(विदूषक समीप जाता है = विद्षकः उपसर्पति)

वासवदत्ता–(विलेपनकुसुमाभरणदानपूर्वकम्) अज्ज, सोत्थिवाअणं पडिच्छ (इत्यर्पयति)। (आर्य स्वस्तिवाचनं प्रतीच्छ।)

वासवदत्ता–(अङ्गराग, पुष्प और आभूषण देते हुए) आर्य, स्वस्ति-वाचन लीजिये। (देती है)।

विदूषक–(सहर्ष गृहीत्वा) सोत्थि भोदीए। (स्वस्ति भवत्यै।)

विदूषक–(हर्ष से लेकर) आपका कल्याण (हो)।

(नेपथ्ये वैतालिकः पठति = नेपथ्य में वैतालिक पाठ करता है)

अस्तापास्तसमस्तभासि नभसः पारं प्रयाते रवा-
वास्थानीं समये समं नृपजनः सायंतने संपतन्।
संप्रत्येष सरोरुहद्यु तिमुषः पादांस्तवासेवितुं
प्रीत्युत्कर्षकृतो दृशामुदयनस्येन्दोरिवोद्वीक्षते॥23॥

समस्त कान्ति को अस्ताचल पर डाल चुके हुए सूर्य के आकाश के पार पहुँच जाने पर अब सायंकाल के समय एक साथ राजसथा की ओर मिलकर जाता हुआ यह राज-समूह चन्द्रमा के समान नेत्रों को आनन्द का अतिशय उत्पन्न करने वाले तुझ उदयन के, कमलों की कान्ति को चुराने वाले चरणों की सेवा करने के लिये ऊपर मुख करके प्रतीक्षा कर रहा है॥23॥

इस श्लोक में श्लेषानुप्राणित उपमा और अनुप्रास अलङ्कार है तथा शार्दूलविक्रीडित छन्द है।

सागरिका–(श्रुत्वा सहर्षं परिवृत्य राजानं सस्पृहं पश्यन्ती) कधं अअं सो राआ उदअणो जस्स अहं तादेण दिण्णा। (दीर्घं नि:श्वस्य) ता परप्पेसणदूसिदं वि मे जीविदं एदस्स दंसणेण दाणीं बहुमदं संवुत्तं। (कथमयं स राजा उदयनो यस्याहं तातेन दत्ता। तत्परप्रेषणदूषितमपि मे जीवितमेतस्य दर्शनेनेदानीं बहुमतं संवृत्तम्।)

सागरिका–(सुनकर हर्ष से मुड़कर राज को चाह से दखती हुई) अरे! यह राजा उदयन है जिसके पिता ने मुझे दिया था (लम्बा सांस लेकर) तब दूसरे की चाकरी से दूषित भी मेरा जीवन इसके दर्शन से अब आदरणीय हो गया।

राजा–कथमुत्सवापहृतचेतोभिरस्माभिः सन्ध्यातिक्रमोऽपि नोपलक्षितः। सम्प्रति परिणतमहः। देवि, पश्य–

राजा—अरे! यह क्या! उत्सव से लुभाये चित्त वाले हम ने सन्ध्या का बीत जाना भी न देखा! अब दिन समाप्त हो गया है। देवी, देखो,

उदयतटान्तरितमियं प्राची सूचयति दिङ् निशानाथम्।
परिपाण्डुना मुखेन प्रियमिव हृदयस्थितं रमणी॥24।

यह पूर्व दिशा उदयगिरि के तट से व्यवहित चन्द्रमा को, जैसी (विरहिणी) रमणी पीले मुख से हृदय में स्थित प्रिय को, सूचित कर रही है॥24॥

देवि, तदुत्तिष्ठ। आवासाभ्यन्तरमेव प्रविशावः।

(सर्वं उत्थाय परिक्रामन्ति) (सब उठकर घूमते हैं)

सागरिका—कधं पत्थिदा देवी। भोदु। ता अहं वि तुरिदं गमिस्सं।

(राजानं सस्पृहं दृष्ट्वा निःश्वस्य) हद्धी हद्धी। मन्दभाइणीए मए पेक्खिदुं वि चिरं ण पारिदो अअं जणो। (इति राजानं पश्यन्ती निष्क्रान्ता)। (कथं प्रस्थिता देवी। भवतु। तदहमपि त्वरितं गमिष्यामि। हा धिक् हा धिक्। मन्दभागिन्य। भया प्रेक्षितुमपि चिरं न पारितोऽयं जनः।)

सागरिका—ऐ, महारानी चल पड़ी। अच्छा, तब मैं भी जल्दी से जाती हूँ। (राजा को चाह से देखकर और गहरा सांस लेकर) हाय! धिक्कार! हाय!! धिक्कार!! मैं मन्दभाग्य इस जन को देर तक देख भी न सकी। (इस प्रकार राजा को देखती हुई निकल जाती है)।

राजा—(परिक्रामन्)

देवि त्वन्मुखपङ्कजेन शशिनः शोभातिरस्कारिणा
पश्याब्जानि विनिर्जितानि सहसा गच्छन्ति विच्छायताम्।
श्रुत्वा ते परिवारवारवनितागीतानि भृङ्गाङ्गना
लीयन्ते मुकुलान्तरेषु शनकैः सञ्जातलज्जा इव॥25॥

(इति निष्क्रान्ताः सर्वे)

इति मदनमहोत्सवो नाम प्रथमोऽङ्कः

राजा—(घूमता हुआ) देवी, देखो, चन्द्रमा की कान्ति को तिरस्कृत करने वाले तुम्हारे मुख रूपो कमल से जीते गये जलज अचानक कान्तिहीन हो रहे हैं। तुम्हारी सेविका गणिकाओं के गीतों को सुनकर भ्रमराङ्गनाएँ, जिन्हें, मानो लज्जा उत्पन्न हो रही है, धीरे-से कुड्मलों के मध्य में छिप रही हैं॥25॥

यहाँ उत्प्रेक्षा अलङ्कार है। अङ्गाङ्गिभाव होने से प्रतीप और हेतु अलङ्कार का उत्प्रेक्षा से सङ्कर है।

(सब निकल जाते हैं)

मदनमहोत्सव नाम का प्रथम अङ्क समाप्त

6.3 द्वितीयोऽङ्कः

(ततः प्रविशति सारिकापञ्जरव्यग्रहस्ता सुसङ्गता)
(सारिका का पिंजड़ा हाथ में लिये सुसङ्गता आती है)

सुसङ्गता—हद्धी हद्धी। कहिं दाणिं मम हत्थै सारिआपञ्जरं णिक्खिविंअ गदा मे पिअसही साअरिआ। ता कहिं पुण एणं पेक्खिस्सं। (अग्रतो निरूप्य) कहं एसा क्खु णिउणिआ। ता कहिं पुण एणं पेक्खिस्सं। (हा धिक्! हा धिक्! कुत्रेदानीं मम हस्ते सारिकापञ्जरं निक्षिप्य गता मे प्रियसखी सागरिका। तत्कुत्र पुनरेनां प्रेक्षिष्ये। कथमेषा खलु निपुणिका इत एवागच्छति। तद्यावदेनां प्रक्ष्यामि।

सुसङ्गता–हाय! हाय!! मेरे हाथ में सारिका का पिंजड़ा सौंप कर अब मेरी प्यारी सखी सागरिका कहाँ चली गई? अब फिर उसे कहाँ देखूँ? (आगे देखकर) हूँ, यह निपुणिका इधर ही आ हरी है। तब उससे ही पूछूंगी।

(ततः प्रविशति निपुणिका = निपणिका प्रवेश करती है)

निपुणिका–(सविस्मयम्) अच्चरिअं अच्चरिअं। अणच्चसदिसो वभावो मण्णे देवदाए। उवलद्धो क्खु मए भत्तुणो वुत्तन्तो। ता गदुअ भट्टिणीए णिवेदइस्सं। (इति परिक्रामति) (आश्चर्यम् आश्चर्यम्। अनन्यसदृशः प्रभावो मन्ये देवतायाः। उपलब्धः खलु मया भर्तुर्वृत्तान्तः। तद्गत्वा भर्त्र्यै निवेदयिष्यामि।)

(निपुणिका प्रवेश करती है)

निपुणिका–(विस्मय से) आश्चर्य! आश्चर्य!! मैं देवता का अद्भुत प्रभाव स्वीकार करती हूँ। मैंने स्वामी का वृत्तान्त प्राप्त कर लिया। अब जाकर स्वामिनी से कह देती हूँ। (घूमती है)।

सुसङ्गता–(उपसृत्य) हला णिउणिए, कहिं दाणिं विम्हओक्खित्तहिअआ विअ इह ट्टिदं मं अवहीरिअ इदो अदिक्कामसि। (हला निपुणिके, कुत्रैदानी विस्मयोत्क्षिप्तहृदयेवेह स्थितां मामवधीर्येतोऽतिक्रामसि।)

सुसङ्गता–(समीप जाकर) सखी निपुणिका, तू अब कहाँ आश्चर्य से हर लिए गये हृदय वाली सी, यहाँ खड़ी हुई मेरी उपेक्षा करके इधर से निकली जा रही है।

निपुणिका–कधं सुसङ्गदा। हला सुसङ्गदे, सुट्ठु तुए जाणिदं। एवं वखु मम विम्हअस्स काअणं। अज्ज किल भट्टा सिरिपव्वदादो आअदस्स सिरिखण्ड-दासणामधेअस्स धम्मिअस्स सआसादो अआलकुसुमसञ्जणणदोहअं सिक्खिअ अत्तणो पडिग्गहिदं णोमालिअं कुसुमसमिद्धिसोहिद्वं करिस्सदित्ति। तहिं एदं वुत्तन्तं जाणिदुं देवीए पेसिदम्हि। तुमं उण कहिं पत्थिदा। (कथं सुसङ्गता। हला सुसङ्गते, सुष्ठु त्वया ज्ञातम्। एतत्खलु मम विस्मयस्य कारणम्। अद्य किल भर्ता श्रीपर्वतादागतस्य श्रीखण्डदासनामधेयस्य धार्मिकस्य सकाशादकालकुसुमसञ्जननदोहदं शिक्षित्वाऽऽत्मनः परिगृहीतां नवमालिकां कुसुमसमृद्धिशोभितां करिष्यतीति। तत्रैतद्वृत्तान्तं ज्ञातुं देव्या प्रेषितास्मि। त्वं पुनः कुत्र प्रस्थिता?)

निपुणिका–कैसे! सुसङ्गता! सखी सुसङ्गता, तुमने ठीक जान लिया। मेरे आश्चर्य का कारण यह है कि-सुना है कि आज स्वामी श्रीपर्वत में आये हुए, श्रीखण्डदास नाम के महात्मा से बिना ऋतु के पुष्प उत्पन्न करने वाले योग को सीखकर अपनी अपनाई हुई नवमालिका को पुष्पों की बहार से शोभित करेगा। यह वृत्तान्त जानने के लिये महारानी ने मुझे वहाँ भेजा था। लेकिन तू कहाँ चली?

सुसङ्गता–पिअसहिं साअरिअं अण्णेसिदुम्। (प्रियसखीं सागरिकामन्वेष्टुम्।)

सुसङ्गता–प्रिय सखी सागरिका को खोजने।

निपुणिका–सहि, दिट्ठा मए दे पिअसही साअरिआ गहिदसमुग्गअचित्तफलअवट्टिआ समुव्विगा विअ कअलीघरं पविसन्ती। ता गच्छ पिअसहिं। अहं वि देवीसआसं गमिस्सं। (सखि, दृष्टा भया ते प्रियसखी सागरिका गृहीतसमुद्गकचित्रफलकवर्तिका समुद्विग्नेव कदलीगृहं प्रविशन्ती। तद्गच्छ प्रियसखीम्। अहमपि देवीसकाशं गमिष्यामि।)

निपुणिका–सखी, मैंने तेरी प्रिय सखी सागरिका रंगों का डिब्बा, चित्रपट और कूंची लिये, परेशान-सी कदली-गृह में घुसती-देखी थी। तब तू प्रिय सखी के पास जा। मैं भी महारानी के पास जाती हूँ।

(इति निष्क्रान्ते = दोनों निकल जाती हैं)

इति प्रवेशकः = प्रवेशक समाप्त

(ततः प्रविशति गृहीतचित्रफलकवर्तिका मदनावस्थां नाटयन्तौ सागरिका)

(तत्पश्चात् चित्रपट और वर्ण लिये, कामावस्था का नाट्य करती हुई सागरिका प्रवेश करती है)

सागरिका–(निःश्वस्य) हिअअ, पसीद पसीद। किं इमिणा आआसमेत्तफलएण दुल्लहजणप्पत्थणाणुबन्धेण। अण्णं च, जेण एव्व दिट्ठेण दे ईदिसो संदावो णं वड्ढदि पुणो वि तं जेव्व पेक्खिदुं अहिलससित्ति अहो दे मूढदा। कधं अ अदिणिसंस जम्मदो पहुवि सह संव्वड्ढिदं इमं जणं परिच्चिइअ क्खणमेत्तदंसणपरिचिदं जणं अणुगच्छन्तो ण लज्जेसि। अहवा को तुह दोसो। अणङ्गसरप डणभीदेण तुए एव्वं अज्ज व्यवसिदं। (सास्रम्)। होदु। अणङ्गं दाव उवालहिस्सं। (अञ्जलिं बद्ध्वा) भअवं कुसुमाउह, णिज्जिदसअलसुरासुरो भविअ इत्थिआजणं पहरन्तो कधं ण लज्जेसि। (विचिन्त्य)। अहवा अणङ्गो सि। (निःश्वस्य) सव्वधा मम मन्दभाइणीए इमिणा दुण्णिमित्तेण अवस्सं मरणं एव्व उवट्टिदं। (फलकमवलोक्य)। ता जाव इह कोवि ण आअच्छदि दाव आलेक्खसमप्पिदं तं अहिमदं जणं पेक्खिअ जधासमीहिदं करिस्सं। सावृष्टम्भमेकमना। भूत्वा नाट्येन फलकं गृहीत्वा निःश्वस्य) जइ वि मे अदिसद्धसेण वेसदि अअ अदिमेत्तं अग्गहत्थो तधावि तस्स जणस्स अण्णो दंसणोवाओ णत्थित्ति जधा तधा आलिहिअ णं पेक्खिस्सं। (इति नाट्येन लिखति)।

(हृदय, प्रसीद प्रसीद। किममुनायासमात्रफलकेन दुर्लभजनप्रार्थनानुबन्धेन। अन्यच्च, येनैव दृष्टेन त ईदृशः सन्तापो ननु वर्धते पुनरपि तमेव प्रेक्षितुमभिलषसीत्यहो ते मूढता। कथं चातिनृशंस जन्मतः प्रभृति सहसंवर्धितमिमं जनं परित्यज्य क्षगमात्रदर्शनपरिचितं जनमनुगच्छन्न लज्जसे। अथवा कस्तव दोषः। अनङ्गशरपतनभीतेन त्वयैवमद्य व्यवसितम्। भवतु। अनङ्ग तवादुपालप्स्ये। भगवन् कुसुमायुध, निर्जितसकलसुरासरो भुत्वा स्त्रीजनं प्रहरन् कथं न लज्जसे। अथवानङ्गोऽसि। सर्वथा मम मन्दभागिन्या अनेन दुर्निमित्तेनावश्यं मरणमेवोपस्थितम्। तद्यावदिह कोऽपि नागच्छति तावदालेख्यसमर्पितं तमभिमतं जनं प्रेक्ष्य यथासमीहितं करिष्यामि। यद्यपि मेऽतिसाध्वसेन वेपतेऽयमतिमात्रमग्रहस्तस्तथापि तस्य जनस्यान्यो दर्शनोपायो नास्तीति यथातथाऽऽलिख्यैनं प्रेक्षिष्य।)

सागरिका–(गहरा सांस लेकर) हृदय, प्रसन्न हो, प्रसन्न हो। इस दुर्लभ जन की अभिलाषा के हट से जिसका केवलमात्र फल दुःख है, क्या लाभ? और फिर, जिसके देखने मात्र से तुझे इतना सन्ताप बढ़ रहा है, फिर भी तू उसे ही देखने की अभिलाषा कर रहा है। आश्चर्य है तेरी मूढता! और अतिक्रूर, जन्म से लेकर साथ बड़े हुये इस जन को छोड़कर क्षणभर के दर्शन से परिचित जन का अनुगमन करते तू लज्जित क्यों नहीं होता? अथवा तेरा क्या दोष? कामदेव के बाण के पड़ने से आशङ्कित हुये तूने आज ऐसा किया है। (आँसू लाकर) अच्छा, तब कामदेव को ही उपालम्भ दंगी। (हाथ जोड़कर) भगवान् कामदेव, सब सुर एवं असुरों को जीतने वाले होकर भी तुम स्त्री जन पर प्रहार करते हुए लजाते क्यों नहीं हो? (सोच कर) या ठीक है, तुम शरीरहीन हो। (गहरा सांस लेकर) इस अपशकुन के कारण निश्चित ही मुझ मन्दभागिनी की मृत्यु आ गई है। (चित्रपट को देखकर) तो जब तक कोई यहाँ नहीं आता, तब तक चित्र में लिखित इस अभीष्ट जन को देखकर इच्छानुसार करूँगी। (संभलकर एकाग्र मन होकर चित्रपट उठाने का नाट्य करके गहरा सांस लेकर) यद्यपि अधिक घबराहट से मेरी अंगुलियाँ बहुत कांप रही हैं, फिर भी इस जन को देखने का कोई अन्य उपाय नहीं है। इसलिए जैसा–तैसा चित्रित करके इसे देखूँगी। (चित्र बनाने का नाट्य करती है।)।

(ततः प्रविशति सुसङ्गता = तत्पश्चात् सुसङ्गता प्रवेश करती है)

सुसङ्गता–एदं तं कअलीधरं। ता पविसामि। (प्रविश्याग्रतोऽवलोक्य च सविस्मयम्) एसा मे पिअसही साअरिआ। किं उण एसा गुरुअणुराओक्खित्तहिअआ किं पि आलिहन्ती ण मं पेक्खदि। भोदु। ता जाव इमाए दिट्ठिपधं परिहरिअ णिरूवइस्सं किं एसा आलिहदित्ति। (स्वैरं पृष्ठतोऽस्याः स्थित्वा दृष्ट्वा सहर्षम्)

कहं भट्टा आलिहिदो। साहु, साअरिए, साहु। अहवा ण कमलाअरं उज्झिअ राअहंसी अण्णहिं अहिरमदि। (एतत्तत्कदलीगृहम्। तत्प्रविशामि। एषा मे प्रियसखी सागरिका। किं पुनरेषा गुर्वनुरागोत्क्षिप्तहृदया किमप्यालिखन्ती न मां प्रेक्षते। भवतु तद्यावदस्या दृष्टिपथं परिहृत्य निरूपयिष्यामि किमेषाऽऽलिखतीति। कथं भर्ताऽऽलिखितः साधु, सागरिके, साधु। अथवा न कमलाकरमुज्झित्वा राजहंस्यन्यस्मिन्नभिरमते।)

सुसङ्गता–यही वह कदली-गृह है। तो अन्दर जाती हूँ। (प्रवेश करके, आगे देखकर, विस्मय से) यह मेरी प्रिय सखी सागरिका है। लेकिन अधिक अनुराग से आक्रान्त-हृदय-सी, कोई चित्र बनाती हुई, यह मुझे क्यों नहीं देख रही? अच्छा! तब इसकी नजर बचाकर देखूगी कि यह क्या चित्र बना रही है? (उसके पीछे की ओर निश्शङ्क खड़ी होकर ओर देखकर हर्ष से) क्या स्वामी का चित्र बनाया है? धन्य हो, सागरिका, धन्य हो। ठीक है, राजहंसी कमल-वन को छोड़ कर अन्यत्र रमण नहीं करती।

सागरिका–(सबाष्पम्) आलिहिदो मए एसो। किं उण अणवरदणिवडन्तवप्फसलिलेण मे दिट्ठि पेक्खिदुं ण प्पहवदि। (मुखमुत्तानीकृत्याश्रूणि निवारयन्ती सुसङ्गतां दृष्ट्वोत्तरीयेण फलकं प्रच्छादयन्ती सविलक्षस्मितम्) कधं पिअसही सुसंगदा। सहि, इदो उपविस। (आलिखितो मयैषः। किं पुनरनवरतनिपतद्बाष्पसलिलेन मे दृष्टिः प्रेक्षितुं न प्रभवति। कथं प्रियसखी सुसङ्गता। सखि, इहोपविश।)

सागरिका–(आँसू भर कर) मैंने यह बना तो लिया। लेकिन निरन्तर बहते हुये आंसुओं के कारण मेरी दृष्टि इसे देख नहीं पाती। (मुख ऊपर उठा कर, आँसुओं को रोकते हुए और सुसङ्गता को देखकर ओढ़नी से चित्रफलक ढकते हुये लज्जा और मुस्कान के साथ) क्या सखी सुसंगता है? सखी, इधर बैठो।

सुसङ्गता–(उपविश्य बालत्फलकमाकृप्य) सहि को एसो तुए एत्थ चित्तफलए आलिहिदो। (सखि, क एष त्वयात्र चित्रफलक आलिखितः।)

सुसङ्गता–(बैठकर और बलपूर्वक चित्रफलक को खींचकर) सखी, यहाँ चित्रपट में तुमने किस चित्रित किया है?

सागरिका–(सलज्जम्) सहि, पउत्तमअणमहूसवे भअवं अणङ्गो। (सखि, प्रवृत्त मदनमहोत्सवे भगवाननङ्गः।)

सागरिका–(लजाते हुये) सखी, इस हो रहे मदन-महोत्सव में भगवान् कामदेव।

सुसङ्ग–(सस्मितम्) अहो दे णिउणत्तं। किं उण सुण्णं विअ एवं चित्तं पडिभादि। ता अहं पि आलिहिअ रदिसणाधं करिस्सं। (वर्तिकां गृहीत्वा नाट्येन रतिव्यपदेशेन सागरिकामालिखति)। (अहो ते निपुणत्वम्। किं पुनः शून्यमिवैतच्चित्रं प्रतिभाति। तदहमप्यालिख्य रतिसनाथं करिष्ये।)

सुसंगता–(मुस्कराकर) धन्य है तुम्हारी निपुणता! फिर भी यह चित्र कुद सूना-सा क्यों लग रहा ह? तो मैं भी चित्र बनाकर (इसे) रति से युक्त कर दूँ। (कूंची लेकर रति के व्याज से सागरिका का चित्र बनाने का नाट्य करती है)।

सागरिका–(विलोक्य सासूयम्) सुसंगदे, कीस तुए एत्थ अहं आलिहिंदा।

(सुसङ्गते, कस्मात्त्वयात्राहमालिखिता।)

सागरिका–(देखकर नाराज होकर) सुसंगता, इससे तूने मेरा चित्र क्यों बनाया?

सुसंगता–(विहस्य) सहि, किं अआरणं कुप्पसि। जादिसो तुए कामदेवो आलिहिदो तादिसी मए रदी आलिहिदा। ता अण्णधासम्भाविणि किं तुह एदिणा आलविदेण। कहेहि सव्वां वुत्तन्तम्। (सखि, किमकारणं कुप्यसि)। यादृशस्त्वया कामदेव आलिखितस्तादृशी मया रतिरालिखिता। तदन्यथासम्भाविनि, किं तवैतेनालपितेन। कथय सर्वं वृत्तान्तम्।)

सुसंगता–(हंसकर) सखी, बिना कारण क्यों नाराज होती हो? जैसा तूने कामदेव बनाया है, वैसी मैंने रति बना दी है। इसलिये, ए उल्टा समझने वाली, तेरी इस व्यर्थ प्रलाप से क्या लाभ यथार्थ बात कह।

सागरिका–(सलज्जा स्वगतम्) णं जणिदिम्ह पिअहीए। (सुसङ्गताया हस्तं गृहीत्वा प्रकाशम्) पिअसहि, महदी क्खु मे लज्जा। ता तहा करेसु जहा ण कोवि अवरो एवं वुत्तन्तं जाणादि त्ति। (ननु ज्ञातास्मि प्रियसख्या। प्रियसखि, महती खलु मे लज्जा। तत्तथा कुरु यथा न कोप्यपर एतद्वृत्तान्तं जानातीति।)

सागरिका–(लजाते हुए, मन में) प्रिय सखी ने मेरी बात जान ली है। (सुसङ्गता का हाथ पकड़ कर, प्रकट रूप से) प्रिय सखी, मुझे बड़ी लज्जा आ रही है। इसलिए ऐसा करो कि कोई दूसरा इस बात को न जान पाए।

सुसंगता–सहि, मा लज्ज। ईदिसस्स कण्णारअणस्स अवस्स एव्व ईदिसे वरे अहिलासेण होदव्वं। तहावि जहा ण कोवि अवरो एदं वुत्तन्तं जाणिस्सदि तहा करेमि। एदाए उण मेधाविणीए सारिआए एत्थ काअणेण होदव्वं। कदावि एसा इमस्स आलावस्स गहिदक्खरा कस्स वि पुरदो मन्तइस्सदि। (सखि, मा लज्ज स्व। ईदृशस्य कन्यारत्नस्यावश्यमेवेदृशे वरेऽभिलाषेण भवितव्यम्। तथापि यथा न कोऽप्यपर एतं वृत्तान्तं ज्ञास्यति तथा करोमि। एतया पुनर्मेधाविन्यासारिकयात्र कारणेन भवितव्यम्। कदाप्येषास्यालापस्य गृहीताक्षरा कस्यापि पुरतो मन्त्रयिष्यते।)

सुसंगता–सखी, लज्जा न करो। ऐसी उत्तम कन्या को अवश्य ही ऐसे वर की अभिलाषा करनी चाहिये। फिर भी, जिससे कोई दूसरा इस बात को न जान पाये, मैं वैसा करूँगी। लेकिन यह बुद्धिमानी सारिका इस (रहस्योद्घाटन) का कारण हो सकती है। कहीं यह इस बातचीत के शब्दों को जानकर किसी के सामने कह सकती है।

सागरिका–ता किं दाणिं एत्थ करइस्सं। अदोवि म अधिअदरं संदावो वट्ठदि। (इति मदनावस्थां नाटयति)। (तत्किमिदानीमत्र करिष्यामि अतोऽपि मेऽधिकतरं सन्तापो वर्धते।)

सागरिका–तो अब इस विषय में क्या करूँ? मेरा सन्ताप तो इससे भी अधिक बढ़ रहा है। (कामावस्था का अभिनय करती है)।

सुसङ्गता–(सागरिकाया हृदये हस्तं दत्त्वा) सहि, समस्सस समस्सस। जाव इमाए दिग्घिआए णलिणीवत्ताइं मुणालिआओ अ गेण्हिअ लहुं आअच्छामि। (निष्क्रम्य पुनः प्रविश्य च नाट्येन नलिनीपत्रैः शयनीयं मृणालैर्वलयानि च रचयित्वा परिशिष्टानि नलिनीपत्राणि सागरिकाया हृदये निक्षिपति) (सखि, समाश्वसिहि समाश्वसिहि। यावदस्या दीर्धिकाया नलिनीपत्राणि मृणालिकाश्च गृहीत्वा लघ्वागच्छामि।)

सुसंगता–(सागरिका के हृदय पर हाथ रखकर) सखी धैर्य रखो। धैर्य रखो। अभी मैं इस बावड़ी से कमलिनी के पत्ते और नाल लेकर तुरन्त जाती हूँ।

(बाहर जाकर फिर प्रवेश करके कमलिनी के पत्तों से बिस्तर और नालों से कड़े बनाकर और बचे हुये कमलिनी के पत्रों को सागरिका के वक्ष पर रखने का नाट्य करती है)।

सागरिका–सहि, अवणेहि इमाइं णलिणीवत्ताइं मुणालवलआइं अ। अलं एविणा। कीस अआरणे अत्ताणं आआसेसि। णं भणामि। (सखि, अपनयेमानि नलिनीपत्राणि मृणालवलयानि च। अलमेतेन किमित्यकारण आत्मानमायासयसि। ननु भणामि।

दुल्लहजणअणुराओ लज्जा गुरुई परव्वसो अप्पा।
पिअसहि विसमं प्पेम्मं मरण सरणं ण वरमेक्कम्॥1॥

(दुर्लभजनानुरागो लज्जा गुर्वी परवश आत्मा। प्रियसखि विषमं प्रेम मरणं शरणं न वरमेकम्॥

(इति मूर्च्छति= मूर्च्छित हो जाती है)

सागरिका–सखी, इन कमल-पत्रों तथा नाल-वलयों को अलग हटा दो। इससे कुछ न होगा। क्यों व्यर्थ अपने को कष्ट दे रही हो? मैं ठीक कहती हूँ–दुर्लभ जन के प्रति प्रेम है, भारी लाज है और शरीर दूसरे के अधीन है। प्रिय सखि, (इन परिस्थितियों में) प्रेम संकटपूर्ण है। (क्या अब) केवल मृत्यु ही उत्तम शरण नहीं है॥1॥

टिप्पणी–

दुर्लभजनानुरागः–जनानाम् अनुरागः,

जनानुरागः, दुर्लभश्चासौ जनानुरागः दुर्लभजनानुरागः।

सुसंगता–(सकरुणम्) सहि साअरिए, समस्सस समस्सस। (सखि सागरिके, समाश्वसिहि समाश्वसिहि।)

सुसंगता–(करुणा से) सखी सागरिका, धीरज रखिए, धीरज रखिए।

(नेपथ्ये)

कण्ठे कृत्तावशेषं कनकमयमधः शृङ्खलादाम
कर्षन्क्रान्त्वा द्वाराणि हेलाचलचरणरणत्किङ्किणीचक्रवालः।
दत्तातङ्कोऽङ्गनानामनुसृतसरणिः संभ्रमादश्वपालैः
प्रभ्रष्टोऽयं प्लवङ्गः प्रविशति नृपतेर्मन्दिरं मन्दुरायाः॥2॥

गले में टूटने से बची हुई सोने को जंजीर को नीचे जमीन में घसीटता हुआ, उछल-कूद से चञ्चल चरणों में बजते हुये घुंघरुओं के समूह वाला, द्वारों को लांघ कर स्त्रियों को भयभीत करने वाला, हड़बड़ा कर अश्व-रक्षकों द्वारा पीछा किया जाता हुआ, अश्व-शाला से खुला हुआ, यह वानर राजा के भवन में प्रवेश कर रहा है॥2॥

प्लवङ्गः– प्लव + गम् + खच् (अ)।

इस श्लोक में स्वाभावोक्ति अलङ्कार तथा स्रग्धरा छन्द है।

अपि च

नष्टं वर्षवरैर्मनुष्यगणनाभावादपास्य त्रपा-
मन्तः कञ्चुकिकञ्चुकस्य विशति त्रासादयं वामनः।
पर्यन्ताश्रयिभिर्निजस्य सदृशं नाम्नः किरातैः कृतं
कुब्जा नीचतयैव यान्ति शनकैरात्मेक्षणाशङ्किनः॥3॥

और भी–

हींजड़े, मनुष्यों में गिनती न होने के कारण लज्जा छोड़ कर भाग पड़े हैं; डर के मारे यह बौना कञ्चुकी के जामे में घुस रहा है; (अन्तःपुर के) छोर का आश्रय लेने वाले किरातों ने अपने नाम के अनुरूप किया है और अपने देख लिये जाने से डरने वाले कुबड़े और झुककर धीरे-से जा रहे हैं॥3॥

टिप्पणी–

नष्टम् – नश् + क्त, भावे क्तः।

यहाँ भयानक रस, आरभटी वृत्ति का 'अपवात' अङ्ग स्वाभावोक्ति अलङ्कार और स्रग्धरा छन्द है।

सुसंगता–(आकर्ण्याग्रतोऽवलोक्य ससंभ्रममुत्थाय सागरिकां हस्ते गृहीत्वा) सहि उट्ठेहि उट्ठेहि। एसो क्खु दुट्ठवाणरो इदो ज्जेव आअच्छदि। ता अलक्खिदं तमालविडवान्धआरे पविसिअ एदं अदिवाहेम्ह। (सखि, उत्तिष्ठोत्तिष्ठ। एष खल दुष्टवानर इत एवागच्छति। तदलक्षितं तमालविटपान्धकारे प्रविश्यैनमतिवाहयाव:।)

सुसंगता – (सुनकर, सामने देखकर, घबराहट से उठकर और सागरिका का हाथ पकड़ कर) सखी, उठो, उठो। यह दुष्ट वानर इधर ही आ रहा है। अत: बिना दिखे तमाल वृक्षों के अंधियारे में जाकर इसे निकल जाने देवें।

(तथाकृत्वोभे सभयं पश्यन्त्यौ स्थिते = वैसा करके दोनों भयपूर्वक देखती हुई खड़ी होती है)

सागरिका–सुसंगदे, कध तुए चित्तफलओ उज्झिवो। कदावि को वितं पेक्खदि। (सुसङ्गते, कथं त्वया चित्रफलक उज्झित:। कदापि कोऽपि तं प्रेक्षते।)

सागरिका–सुसंगता, अरी! क्या तूने चित्रपट वहीं छोड़ दिया? कहीं कोई उसे देख ले तो?

सुसंगता–अइ सुत्थिदे किं अज्ज वि चित्तफलएण करिस्ससि। एसो क्खु दधिमत्तलम्पडो सारिआपञ्जरं उग्घाडिअ दुट्ठवाणरो अदिक्कन्तो। एसा क्खु मेहाविणी उड्डीणा अण्णदो गच्छदि। ता एहि। लहुं अणुसरेम्ह। इमस्स आलावस्स गहिदक्खरा कस्स वि पुरदो मन्तइस्सदि। (अयि सुस्थिते, किमद्यापि चित्रफलकेन करिष्यसि। एष खलु दधिभक्तलम्पट: सारिकापञ्जरमुद्घाट्य दुष्टवानरीऽतिक्रान्त:। एषा खलु मेधाविन्युड्डीनाऽन्यतो गच्छति। तदेहि। लघ्वनुसराव:। अस्यालापस्य गृहीताक्षरा कस्यापि पुरतो मन्त्रयिष्यते।)

सुसंगता–अरी, आराम से खड़ी रहने वाली, अब चित्रफलक का क्या करेगी? (देख), दही और भात का लोभी यह दुष्ट बन्दर सारिका के पिंजरे को खोल कर चला गया है। यह मेधाविनी भी उड़ी जा रही है। तो आओ, जल्दी से इसका पीछा करें। इस बातचीत के अक्षरों से परिचित यह किसी के सामने कह देगी।

सागरिका–सहि एव्वं करेम्ह। (सखि एवं कुर्व:।)

सागरिका–सखी, ऐसा करते हैं।

(इति परिक्रामत:) (यह कहकर दोनों घूमती हैं।)

(नेपथ्ये = नेपथ्य में)

ही ही अच्चरिअं अच्चरिअं। (ही ही आश्चर्यमाश्चर्यम्।)

हा! हा! अरे! आश्चर्य, आश्चर्य!

सागरिका–(विलोक्य सभयम्) सुसंगदे, जाणीअदि पुणो वि सो दुठ्ठवाण रो आअच्छदित्ति। (सुसंगते, ज्ञायते पुनरपि स दुष्टवानर आगच्छतीति।)

सागरिका–(देखकर भय से) सुसंगता, मालूम होता है, वह दुष्ट वानर फिर आ रहा है।

सुसंगता–(विदूषकं दृष्टवा विहस्य) अइ कादरे, मा भेहि। भत्तुणो परिवासवत्ती क्खु एसो अज्जवसन्तओ। (अयि कातरे, मा बिभीहि। भर्तु: परिपार्श्ववर्ती खल्वेष आर्यवसन्तक:।)

सुसंगता–(विदूषक को देखकर जोर से हँसकर) अरी, डरपोक, न डर। यह तो स्वामी के पास रहने वाला आर्य वसन्तक है।

सागरिका–(सस्पृहमवलोक्य) सहि सुसंगदे, दंसणीओ क्खु अअं जणो।

सागरिका–(चाह से देखकर) सखी सुसंगता, तब तो यह जन दर्शनीय है।

(सखि सुसंगते, दर्शनीयः खल्वयं जनः।)

सुसंगता–अइ सुत्थिदे, किं एदिणा दिट्ठेण। दूरीभूदा क्खु सारिआ। ता एहि। अणुसरेम्ह। (अयि सुस्थिते, किमनेन दृष्टेनेन। दूरीभूता खलु सारिका। तदेहि। अनुसराव:।)

सुसंगता–अरी निश्चिन्त, इसके देखने से क्या होगा? सारिका दूर होती जा रही है। आओ, दोनों उसी का पीछा करें।

(इति निष्क्रान्ते) (दोनों बाहर जाती हैं)

विदूषक–ही ही भो अच्चरिअं। साहु, रे सिरिखण्डदास धम्मिअ, साहु। जेण दिण्णमेत्तेण ज्जेव्व तेण। दोहअएण ईदिसी णोमालिआ संवुत्ता जेण निरन्तरुब्भिण्णकुसुमगुच्छहोहिदविडवा उवहसन्ती विअ लक्खिअदि देवीपरिगहिदं माहवीलदं। ता जाव गदुअ पिअवअस्सं वड्ढाइस्सं। (परिक्रम्यावलोक्य च) एसो क्खु पिअवअस्सो तस्स दोहअस्स लद्धपच्चअदाए परोक्खं वि तं णोमालिअं पच्चक्खं विअ कुसुमिदं पेक्खंतो हरिसुप्फुल्ललोअणो इदो ज्जेव्व आअच्छदि। ता जाव णं उवसप्पामि। (ही ही भो आश्चर्यमाश्चर्यम्। साधु, रे श्री खण्डदास धार्मिक, साधु। येन दत्तमात्रेणैव तेन दोहदकेनेदृशी नवमालिका संवृत्ता येन निरन्तरोद्भिन्नकुसुमगुच्छशोभितविटपोपहसन्तीव लक्ष्येते देवीपरिगृहीतां माधवीलताम्। तद्यावद्गत्वा प्रियवयस्यं वर्धयिष्यामि। एष खलु प्रियवयस्यस्तस्य दोहदस्य लब्धप्रत्ययतया परोक्षामपि तां नवमालिकां प्रत्यक्षामिव कुसुमितां प्रेक्षमाणो हर्षोत्फुल्ललोचन इत एवागच्छति। तद्यावदेनमुपसर्पामि।)

(ततः प्रविशति प्रहृष्टो विदूषकः = तत्पश्चात् प्रसन्न विदूषक प्रवेश करता है)

विदूषक–अहा! हा! अरे आश्चर्य आश्चर्य। धन्य रे महात्मा श्रीखण्डदास, धन्य। क्योंकि उस योग (धूनी) के देते ही नवमालिका ऐसी हो गई कि निरन्तर खिले हुए फूलों के गुच्छों से शोभित डालियों वाली वह, मानो महारानी द्वारा अपनाई गई माधवी लता का उपहास करती हुई दिखती है। तब अब जाकर प्रिय मित्र को बधाई दूँगा। (घूमकर और देखकर) उस योग में विश्वास होने के कारण परोक्ष नवमालिका को, मानो प्रत्यक्ष पुष्पित देखता हुआ हर्ष से विकसित नेत्रों वाला यह प्रिय मित्र इधर ही आ रहा है। तो इसके पास जाता हूँ।

(ततः प्रविशति यथानिर्दिष्टो राजा)

(तत्पश्चात् यथोक्त राजा प्रवेश करता है)

राजा–(सहर्षम्)

उद्दामोत्कलिकां विपाण्डुररुचं प्रारब्धजृम्भां
क्षणादायासं श्वसनोद्गमैरविरतैरातन्वतमात्मनः।
अद्योद्यानलतामिमां समदनां नारीमिवान्यां ध्रुवं
पश्यन्कोपविपाटलद्युति मुखं देव्याः करिष्याम्यहम्॥4॥

क्षण भर में ही अत्यधिक कलियाँ निकली हुई, धवल कानित वाली, कलियों का प्रारम्भ हुए विकास वाली, निरन्तर वायु के आघात से अपना आयास प्रकट करती हुई अर्थात् वायु के झोकों से हिलती हुई, मदन नामक वृक्ष से युक्त इस उद्यान लता को, अत्यधिक उत्कण्ठा वाली, जँभाई लेती हुई, निरन्तर गहरे श्वासों से अपनी खिन्नता प्रकट करने वाली, किसी अन्य कामावस्था वाली सुन्दरी के समान देखता हुआ मैं आज निश्चय ही महारानी के मुख को क्रोध से लाल कान्ति वाला कर दूँगा॥4॥

टिप्पणी–

प्रस्तुत सूत्र में श्लेष और उपमा अलङ्कार है तथा शार्दूलविक्रीडित छन्द है।

राजा–(हर्ष से)

तद् वृत्तान्तमुपलब्धुं गतो वसन्तकोऽद्यापि नायाति।

उसका समाचार जानने के लिये गया हुआ वसन्तक अभी तक नहीं आया है।

विदूषक–(सहसोपसृत्य) जअदु जअदु पिअवअस्सो। भो वअस्स, दिठ्ठिआ वड्ढसि। ('जेण दिण्णमेत्तेण ज्जेव्व तेण दोहअएण ईदिसी णोमालिआ संवुत्ता' इत्यादि पुनः पठति)। (जयतु जयतु प्रियवयस्यः। भो वयस्य, दिष्ट्या वर्धसे।)

विदूषक–(अकस्मात् समीप आकर) प्रिय मित्र की जय हो, जय हो। हे मित्र, तुम्हें बधाई है। (क्योंकि उस दोहद के देते ही नवमालिका ऐसी हो गई–.....इत्यादि कहता है)

राजा–वयस्य, कः सन्देहः? अचिन्त्यो हि मणिमन्त्रौषधीनां प्रभावः। पश्य–

राजा–मित्र, क्या संदेह है? मणि, मन्त्र और औषधियों का प्रभाव अचिन्त्य होता है। देखो–

कण्ठे श्रीपुरुषोत्तमस्य समरे दृष्ट्वा मणि शत्रुभि,
र्नष्टं मन्त्रबलाद्वसन्ति वसुधामूले भुजङ्गा हताः।
पूर्वं लक्ष्मणवीरवानरभटा ये मेघनादाहताः
पीत्वा तेऽपि महौषधेर्गुणनिधेर्गन्धं पुनर्जीविताः॥5॥

तदादेशय मार्गं येन वयमद्य तदवलोकनेन चक्षुषः फलमनुभवामः।

युद्ध में भगवान् विष्णु के कण्ठ में (कौस्तुभ) मणि को देखकर (उसके) शत्र भाग खड़े हुए। मन्त्र के प्रभाव से शक्तिहीन हुए सर्प पृथ्वी के मूल पाताल में रहते हैं। पहले जो लक्ष्मण और वीर वानर–योद्धा मेघनाद ने मार दिये थे, वे भी गुणों की निधान महौषधि की गन्ध का पान करके फिर जीवित हो गये॥5॥

तो मार्ग दिखलाओ, जिससे कि उसको देखकर हम भी दृष्टि का फल पा लेवें।

विदूषक–(साटोपम्) एदु एदु भवं। (एत्वेतु भवान्।)

विदूषक–(गर्व से) चलिये, चलिये।

राजा–गच्छाग्रतः।

राजा–आगे आगे चलो।

(उभौ सगर्वं परिक्रामतः = दोनों गर्व से घूमते हैं)

विदूषक–(आकर्ण्य सभयं निवृत्य राजानं गृहीत्वा ससंभ्रमम्) भो वअस्स, एहि। पलाअम्ह। (भो वयस्य, एहि। पलायावहे।)

विदूषक–(सुनकर, भय से लौटकर, राजा को पकड़कर घबराहट से) हे मित्र, आओ, भाग चलें।

राजा–किमर्थम्।

राजा–क्यों?

विदूषक–भोः, एदस्सिं बउलपाअवे कोवि भूदो पडिवसदि।

(भोः, एतस्मिन् बकुलपादपे कोऽपि भूतः प्रतिवसति।)

विदूषक–इस मौलसिरी के पेड़ पर कोई रहता है।

राजा–धिङ् मूर्ख विस्रब्धं गम्यताम्। कुत ईदृशानामत्र संभवः।

राजा–छिः मूर्ख, निडर होकर चलो। यहाँ ऐसी चीजों की कहाँ से सम्भावना हो सकती है।

विदूषक–भो एसो खु फुडक्खरं ज्जेव्व मन्तेदि। जई मम वअणं ण पत्तिआअसि ता अग्गदो भविअ सअं ज्जेव्व आअण्णेहि। (भोः, एव खलु स्फुटाक्षरमेव मन्त्रयति। यदि मम वचनं न प्रत्याययसि तदग्रतो भूत्वा स्वयमेवाकर्णय।)

विदूषक–अरे! यह तो बिल्कुल साफ अक्षरों में बोल रहा है। यदि मेरी बात का विश्वास न हो तो आगे बढ़कर स्वयं ही सुन लो।

राजा–(तथा कृत्वा श्रुत्वा च)

राजा–(वैसा करके और सुनकर)

स्पष्टाक्षरमिदं यस्मान्मधुरं स्त्रीस्वभावतः।
अल्पाङ्गत्वादनिर्ह्रादि मन्ये वदति सारिका॥6॥

क्योंकि यह वचन स्पष्ट अक्षरों वाला है, स्त्रियों के स्वभाव के अनुरूप मधुर है और बोलने वाले के छोटे अङ्गों वाला होने के कारण धीमा है, इससे मैं समझता हूँ कि कोई सारिका बोल रही है॥6॥

(ऊर्ध्वं निरूप्य) कथं सारिकैवेयम्।

(ऊपर की ओर ध्यान से देखकर) अरे! कैसे! यह तो सारिका ही है।

विदूषक–(ऊर्ध्वमवलोक्य) आः कधं सच्चं जेव्व सारिआ। (सरोषं दण्डकाष्ठमुद्यम्य) आः दासीए धीए, किं तुमं जाणासि सच्चं जेव्व वसन्तओ भाअदिति। ता चिट्ठ मुहुत्तं जाव इमिणा पिसुणजणहिअअकुडिलेण दण्डकट्ठेण पडिपक्कं विअ फइत्थफलं इमादो बउलपाअवादो आहणिअ भूमिए तुमं पाडइस्सं। (इति हन्तुमुद्यतः)। (आः कथं सत्यमेव सारिका। आः दास्याः पुत्रि, किं त्वं जानासि सत्यमेव वसन्तको बिभेतीति। तत्तिष्ठ मुहूर्त्तं यावदतेन पिशुनजनहृदयकुटिलेन दण्डकाष्ठेन परिपक्वमिव कपित्थफलमस्माद्बकुलपादपादाहत्य भूमौ त्वां पातयिष्यामि।)

विदूषक–(ऊपर की ओर देखकर) आह! कैसे! सचमुच ही सारिका है। (क्रोध से छड़ी उठाकर) आह! दासी की बच्ची, क्या तूने समझ लिया है कि वसन्तक सचमुच ही डर रहा है तो जरा ठहर। अभी धूर्त जनों के हृदय के समान कुटिल इस छड़ी से पके कैथ के फल के समान तुझे मारकर इस मौलसिरी के पेड़ से जमीन पर गिराता हूँ। (यह कहकर मारने के लिये तैयार हो जाता है)।

राजा–(निवारयन्) मूर्ख, किमप्येषा रमणीयं व्याहरति। तत्कथमेनां त्रासयसि। शृणुवस्तावत्।

राजा–(रोकते हुये) मूर्ख, यह कोई सुन्दर बात कह री है। तो क्यों इसे डरा रहा है। दोनों सुनें तो।

(उभावाकर्णयतः = दोनों सुनते हैं)

विदूषक–(आकर्ण्य) भो वअस्स, सुदं तुए जं एदाए मन्तिदं। एसा भणादि–'सहि, को एसो तुए आलिहिदो। सहि, पउत्तमअणमहूस्सवे भअवं अणङ्गो' त्ति। पुणो वि भणावि–'सहि, कीस तुए अहं एत्थ आलिहिदा। सहि किं अआरणे कुप्पसि। जादिसो तुए कामदेओ आलिहिदो तादिसी मए रदी आलिहिदा। ता अण्णधासम्भाविणि किं तुह एदिणा आलविदेण। कहेसि सव्वं वुत्तन्तं त्ति। भो वअस्स किं णेदम्। (भो वयस्य, श्रुतं त्वया यदेतया मन्त्रितम्। एषा भणति–'सखि क एष स्वयाऽऽलिखित। सखि, प्रवृत्तमदनमहोत्सवे भगवाननङ्ग' इति। पुनरपि भणति–'सखि, कस्मात्त्वयाहमत्रालिखिता। सखि, किमकारणे कुप्यसि। यादृशस्त्वया कामदेव आलिखितस्तादृशी मया रतिरालिखिता। तदन्यथासम्भाविनि, किं तवै तेनालपितेन। कथय सर्वं वृत्तान्तम्' इति। भो वयस्य, किंन्विदम्।

विदूषक–(सुनकर) हे मित्र, तुमने सुना, इसने क्या कहा। यह कह रही है–''सखी, तुमने यह किसका चित्र बनाया है? सखी, प्रारम्भ हुए मदनमहोत्सव में भगवान् कामदेव का।'' यह आगे कह रही है–''सखी, तूने इसमें मेरा चित्र क्यों बनाया? सखी, क्यों तू व्यर्थ कुपित हो रही है। जेसा तूने कामदेव का चित्र बनाया है, वैसा ही मैंने रति का चित्र बनाया है। इसलिये विपरीत समझने वाली, तेरी इस बकवाद से क्या लाभ? सारी सच्ची बात बतला।'' मित्र यह क्या बात है?

राजा–वयस्य, एवं तर्कयामि। कयापि हृदयवल्लभोऽनुरागादालिख्य कामदेवव्यपदेशेन सखीपुरतोऽपह्नतः। तत्सख्यापि प्रत्यभिज्ञाय वैदग्ध्यादसावपि रतिव्यपदेशेन तत्रैवाऽऽलिखितेति।

राजा–मित्र, मैं ऐसा समझता हूँ–किसी ने प्रेमवश हृदय के प्रिय जन का चित्र बनाकर (उसे) सखी के सामने कामदेव के व्याज से छिपाया। तब सखी ने भी (रहस्य) जान कर चतुरता से वहीं रति के बहाने उसका भी चित्र बना दिया।

विदूषक–(छोटिकां दत्वा) भो वअस्स, जुज्जदि। एव्वं क्खु एदं।

विदूषक–(चुटकी बजाकर) हे मित्र, ठीक है। ऐसा ही है।

(भो वयस्य, युज्यते। एवं खल्वेतत्)

राजा–भो वयस्य, तूष्णीं भव। पुनरप्येषा व्याहरति।

राजा–मित्र, चप रहो। यह फिर आगे कह रही है।

विदूषक–भो एसा भणादि–'सहि, मा लज्ज। ईदिसस्स कण्णारअणस्स अवस्सं जेव्वं ईदिसे वरे अहिलासेण होदव्वं' त्ति। भो वअस्स, जा एसा आलिहिदा सा क्खु कण्णा द सणीआ। (भो एषा भणति–'सखि, मा लज्जस्व। ईदृशस्य कन्यारत्नस्यावश्यमेवेदृशे वरेऽभिलाषण भवितव्यम्' इति। भो वयस्य, यैषाऽऽलिखिता स खलु कन्या दर्शनीया।)

विदूषक–अरे! यह कह रही है–'सखी, लज्जा न करो। ऐसी उत्तम कन्या की अवश्य ही ऐसे वर के लिये अभिलाषा होनी चाहिए।' हे मित्र, जिस कन्या का चित्र बनाया गया है, वह अवश्य सुन्दर होगी।

राजा–यद्येवमवहितौ शृणुवस्तावत्। अस्त्यत्रावकाशो नः कुतूहलस्य।

राजा–यदि ऐसा है तो सावधान होकर सुनें। इसमें हमारी उत्सुकता के लिये स्थान है।

(इत्युभावाकर्णयतः = दोनों सुनते हैं)

विदूषक–भो वअस्स, सुदं तुए जं तदाए मन्तिदं–'सहि, अदोवि मे अधिअदरं संदावो वढ्ढदि'। 'सहि, अवणेहि इमाइं णलिणीपत्ताइं मुणालवलआहं अ। अलं एदिणा। कीस अआरणे अत्ताणं आआसेसि' त्ति। (भो वयस्य, श्रुतं त्वया यदेतया मन्त्रितम्–'सखि, अतोऽपि मेऽधिकतरं संतापो वर्धते। 'सखि, अपनयेमानि नलिनीपत्राणि मृणालवलयानि च। अलमेतेन। कस्मादकारण आत्मानमायासयसि' इति।)

विदूषक–हे मित्र, सुना तुमने इसने जो कहा–'सखी, इससे मेरी पीडा और अधिक बढ़ रही है।' 'सखी, इन कमलिनी के पत्रों और नाल के वलयों को हटाओ। इनसे बस करो। क्यों व्यर्थ स्वयं को कष्ट दे रही हो?'

राजा–वयस्य न केवलं श्रुतमभिप्रायोऽपि लक्षितः।

राजा–मित्र, केवल सुन ही नहीं लिया, अपितु आशय भी समझ लिया है।

विदूषक–भो मा तुमं पण्डिअगव्वं उव्वह। अहं दे एदाए मुहादो सुणिअ सव्वं वक्खाण इस्सं। ता सुणेम्ह। अज्जवि कुरकुराअदि एव्व एसा सारिआ दासीए धीआ। (भो मा त्वं पाण्डित्यगर्वमुद्वह। अहं त एतस्या मुखाच्छ्रु त्वा सर्वं व्याख्यास्यामि। तच्छृणुवः। अद्यापि कुरकुरायत एवैषा सारिका दास्याः पुत्री।)

विदूषक–अरे, पाण्डित्य का अभिमान न कर। मैं इसके मुख से सुनकर तुझे सब बतला दूंगा। इसलिये दोनों सुनें। अभी भी यह दासी की पुत्री सारिका कुर-कुर कर रही है।

राजा–युक्तमभिहितम्।

राजा–ठीक कहा।

(पुनराकर्णयतः) (फिर दोनों सुनते हैं)

विदूषक–भो वअस एसा वखु सारिआ दासीए दुहिदा चदुव्वेदी ब्रह्मणो विअ रिचाई पढिदुं पउत्ता। भो वयस्य, एषा खलु सारिका दास्याय दुहिता चतुर्वेदी ब्राह्मण इव ऋचः पठितुं प्रवृत्ता।)

विदूषक–हे मित्र, यह तो दासी की बेटी सारिका चतुर्वेदी ब्राह्मण के समान ऋचायें पढ़ने लगी।

राजा–वयस्य, कथय किमप्यन्यचेतसा मया नावधारितं किमनयोक्तमिति।

राजा–मित्र, तनिक बताओ, अन्यमनस्क वाले मैंने समझा नहीं कि इसने क्या कहा?

विदूषक–भो एदं एदाए पढिदं–(भो एतदेतया पठितम्)

विदूषक–अरे इसने यह कहा है–

दुल्लहजणअणुराओ लज्जा गुरुई परवसो अप्पा।
पिअसहि विसमं प्पेमं मरणं सरणं ण वरमेक्कम्॥7॥

(दुर्लभजनानुरागो लज्जा गुर्वी परवश आत्मा। प्रियसखि विषमं प्रेम मरणं शरणं नु वरमेकम्॥7॥

दुर्लभजन का अतिप्रेम है, भारी लज्जा है और शरीर अन्य के अधीन है। प्रिय सखी, (इन परिस्थितियों में) प्रेम संकटपूर्ण है। (क्या अब) केवल मरण ही उत्तम शरण नहीं है॥7॥

राजा–(सस्मितम्) साधु, भवन्तं महाब्राह्मणं मुक्त्वा कोऽन्य एवमृचामभिज्ञः।

राजा–(मुस्करा कर) ठीक, आप जैसे महाब्राह्मण को छोड़कर अन्य कौन इस प्रकार ऋचाओं को जान सकता है।

विदूषक–तदो किं णु खु एदम्। (ततः किं नु खल्विदम्।)

विदूषक–तब फिर यह क्या है?

राजा–ननु गाथेयम्।

राजा–यह गाथा है।

विदूषक–किं गाथा। (किं गाथा?)

विदूषक–क्या गाथा?

राजा–वयस्य, कयापि श्लाघ्ययौवनया प्रियतममनासादयन्त्या जीवित-निरपेक्षयोक्तम्।

राजा–किसी प्रशंसनीय यौवनवाली ने प्रियतम को न पाकर जीवन से उदास होने वाली ने यह कहा है।

विदूषक–(उच्चैर्विहस्य) भो किं एदेहिं वक्कभणिदेहिं। उजुअं एव्व किं ण भणासि जधा मं एव्व अणासादअन्तीएत्ति। अण्णहा को अण्णो कुसुमचावव्वदेसेण णिण्हवीअदि। (हस्तातालं दत्त्वोच्चैर्विहसति)। (भोः किमेतैर्वक्रभणितैः ऋजुकमेव किं न भणसि यथा मामेवानासादयन्त्येति। अन्यथा कोऽन्यः कुसुमबाणव्यपदेशेन निह्नूयते।)

विदूषक–(जोर से हंसकर) अरे! इन टेढ़ी बातों से क्या लाभ? सीधे ही क्यों नहीं कहते कि 'मुझे न प्राप्त करने वाली ने'। नहीं तो, दूसरे किसको इस प्रकार कामदेव के व्याज से छिपाया जायेगा। (हाथों से ताली बजाकर जोर से हँसता है)।

राजा–(ऊर्ध्वमवलोक्य) धिङ् मूर्ख, किमुच्चैर्विहसता त्वयेवमुन्त्रासिता येनोडीयान्यत्र क्वापि गता।

राजा–(ऊपर की ओर देखकर) छिः मूर्ख, जोर से हँसकर तूने यह क्यों डरा दी कि उड़कर कहीं दूसरी जगह चली गई।

(इति निरूपयतः = दोनों ध्यान से देखते हैं)

विदूषक–(विलोक्य) भो एसा कअलीघरं एव्व गदा। ता एहि। लहुं अणुसरेम्ह। (भो एषा कदलीगृहमेव गता। तदेहि। लघ्वनुसराव:।)

विदूषक–(देखकर) अरे, यह तो कदली-गृह की ओर ही गई है। तो आओ, दोनों जल्दी से पीछा करें।

राजा–

दुर्वारां कुसुमशरव्यथां वहन्त्या
कामिन्या यदभिहितं पुरः सखीनाम्।
तद् भूयः शिशुशुकसारिकाभिरुक्तं
धन्यानां श्रवणपथातिथित्वमेति ॥8 ॥

राजा–दुष्परिहार काम-पीड़ा को धारण करने वाली सुन्दरी द्वारा सखियों के सामने जो (वचन) कहा जाता है, बालक, तोते तथा मैना द्वारा फिर कहा गया वह (वचन) भाग्यशालियों (ही) के श्रोत्रपथ का गोचर होता है ॥8 ॥

विदूषक– एदु एदु भवं। (परिक्रामत:)। भो एदं क्खु कअलीघरं। जाव पविसम्ह। (एत्वेतु भवान्। भो एतत्खलु कदलीगृहम्। यावत्प्रविशाव:।)

विदूषक – चलें, आप चलें। (दोनों घूमते हैं) अरे, यही कदली-गृह है। आओ, प्रवेश करें।

(इत्युभौ प्रविशतः= दोनों प्रवेश करते हैं)

विदूषक–भो गदा दासीए धीआ। इध दाव मन्दमारुदुव्वेलन्तबालकअली दलसीदले सिलादले उपविसिअ मुहुत्तअं वीसमम्ह। (भोगता दास्याः पुत्री इह तावन्मन्दमारुतोद्वेल्लद्बालकदलीदलशीतले शिलातल उपविश्य मुहूर्त विश्राम्याव:।)

विदूषक–अरे! वह दासी की पुत्री तो गई। अब यहाँ मन्द पवन से हिलते हुए नये केले के पत्तों से शीतल शिलातल पर बैठ कर क्षणभर विश्राम कर लेते हैं।

राजा–यदभिरुचितं भवते। (इत्युपविशतः। राजा निःश्यस्य दुर्वार कुसुमशरव्यथामित्यादि 2/8 पुनः पठति)।

राजा–जैसा आपको अच्छा लगे। (यह कहकर दोनों बैठ जाते हैं राजा गहरी सांस लेकर, 'दुष्परिहार काम-पीडा' इत्यादि 2/8 फिर दोहराता है)।

विदूषक–(पार्श्वतोऽवलोक्य) भो वअस्स, एदेण क्खु उग्धाडिददुवारेण ताए सारिआए पञ्जरेण होदव्वं। एसो वि सो चित्तफलओ। जाव ण गेण्हामि। (फलकं गृहीत्वा निरूप्य च सहर्षम्) भो वअस्स, दिट्ठिआ वड्ढसि। (भो वयस्स एतेनोद्घाटितद्वारेण तस्याः सारिकायाः पञ्जरेण भवितव्यम्। एषोऽपि स चित्र फलक:। यावदेनं गृह्णामि। भो वयस्य, दिष्ट्या वर्धसे।)

विदूषक–(दोनों ओर देखकर) अरे! यह खुले हुए द्वार वाला उस सारिका का पिंजरा होगा और यह वह चित्रपट है तो इसे लेता हूँ। (चित्रपट से लेकर, ध्यान से देखकर हर्ष से) हे मित्र, तुम्हें बधाई!

राजा–(सकौतुकम्) वयस्य, किमेतत्?

राजा–(कुतूहल से) मित्र, यह क्या है?

विदूषक–भो एदं तं जं मए भणिदं। तुमं जेव्व एत्थ आलिहिदो। को अण्णो कुसुमचावव्वदेसेण णिण्हवीअदित्ति। (भो एतत्तद्यन्मया भणितम् त्वमेवात्राऽऽलिखितः। कोऽन्यः कुसुमचापव्यपदेशेन निह्नूयत इति।)

विदूषक–अरे, यह वही है जो मैंने कहा था। इसमें तेरा ही चित्र बनाया है। कामदेव (पुष्प के धनुष वाले) के व्याज से अन्य किसे छिपाया जा सकता है।

राजा–(सहर्ष हस्तौ प्रसार्य) सखे, दर्शय दर्शय।

राजा–(हर्ष से दोनों हाथ फैलाकर) मित्र, दिखलाओ, दिखलाओ।

विदूषक–ण दे दंसइस्सं। सावि कण्णआ, एत्थ एव्व आलिहिदा। ता किं पारितोसिएण विणा ईदिसं कण्णारअणं दंसीअदि। (न ते दर्शयिष्यामि। सापि कन्यकात्रैवाऽऽलिखिता। तत् किं पारितोषिकेण विनेदृशं कन्यारत्नं दर्श्यते।)

विदूषक–तुम्हें नहीं दिखलाऊँगा। वह कन्या भी इसी में चित्रित की गई है। तो क्या इनाम के बिना ऐसी उत्तम कन्या दिखाई जाती है।

राजा–(कटकमर्पयन्नेव बलाद् गृहीत्वा विलोक्य सविस्मयम्।)

(कड़ा देते हुए बलपूर्वक ग्रहण करके विस्मय से देखकर)

लीलावधूतपद्मा कथयन्ती पक्षपातमधिकं नः।
मानसमुपैति केयं चित्रगदा राजहंसीव ॥9॥

क्रीडा से कमलों को कम्पित करने वाली, पंखों को फड़फड़ाती हुई सुन्दर चाल वाली, राजहंसी जैसे मानसरोवर में वैसे ही विलास लक्ष्मी को तिरस्कृत करने वाली, हमारे प्रति अनुराग प्रकट करने वाली, चित्र में लिखित यह कौन हमारे मन में प्रवेश कर रही है?॥9॥

टिप्पणी–

यहाँ शिलष्ट विशेषणों का प्रयोग करते हुए राजा के हृदय में सागरिका के प्रति प्रथमानुराग का बीज सूचित किया गया है।

अपि च

विधायापूर्वपूर्णेन्दुमस्या मुखमभूद् ध्रुवम्।
धाता निजासनाम्भोजविनिमोलनदुःस्थितः ॥10॥

इसके मुखरूपी अनुपम पूर्ण चन्द्र को बनाकर, निश्चय ही विधाता अपने वासस्थान कमल के संकोचन से कठिनाई से बैठा होगा॥10॥

(ततः प्रविशति सागरिका सुसङ्गता च = तत्पश्चात् सागरिका और सुसङ्गता प्रवेश करती हैं)

सुसङ्गता–सहि ण समासादिदा अम्हेहि सारिआ। ता चित्तफलअं वि दाव इमादो कअलीघरादो गेण्हिअ लहुं आगच्छम्ह। सखी न समासादितास्माभिः सारिका। तच्चित्रफलकमपि तावदेतस्मात्कदलीगृहाद् गृहीत्वा लघ्वागच्छावः।)

सुसङ्गता—सखी, हमें सारिका तो नहीं मिली। तब अब इस कदली गृह से चित्रपट को ही लेकर जल्दी से आ जाएं।

सागरिका—सहि एव्वं करेम्ह। (सखि एवं कुर्वः)

सागरिका—सखी, ऐसा करते हैं।

(उभे परिक्रामतः) (दोनों घूमती हैं)

विदूषकः—भो वअस्स, कीस उण एसा ओणदमुही आलिहिदा।

विदूषक—हे मित्र, लेकिन इसे अधोमुखी (नीचा मुख की हुई) क्यों चित्रित किया गया है।

(भो वयस्य, कस्मात्पुनरेषावनतमुख्यालिखिता।)

सुसङ्गता—(आकर्ण्य) सहि, जघा वसन्तओ मन्तेदि तधा तक्केमि भट्टिणा वि एत्थ एव्व होदव्वं। ता कअलीगुम्मन्तरिदाओ भविअ पेक्खम्ह (सखि, यथा वसन्तको मन्त्रयते तथा तर्कयामि भर्त्राप्यत्रैव भवितव्यम्। तत्कदलीगुल्मान्तरिते भूत्वा प्रेक्षावहे।)

सुसङ्गता—सखी, क्योंकि वसन्तक बोल रहा है, उनसे अनुमान करती हूँ कि यहाँ स्वामी भी होंगे। तब केले के झुरमुट की ओट में होकर देखें तो।

(इत्यभे पश्यतः) (दोनों देखती हैं)

राजा—वयस्य, पश्य पश्य। (विधायापूर्वपूर्णेन्दुमित्यादि पुनः पठति।)

राजा—मित्र, देखो, देखो। ('अनुपम पूर्ण चन्द्र बनाकर...' इत्यादि कहता है)

सुसङ्गता—सहि, दिट्ठआ वड्ढसि। एसो दे हिअअवल्लहो तुमं जेव्व णिव्वण्णअन्तो चिट्ठदि। (सखि, दिष्ट्या वर्धसे। एष ते हृदयवल्लभस्त्वामेव निर्वर्णयंस्तिष्ठति।)

सुसङ्गता—सखी, बधाई है। यह तेरा प्रियतम तुझे ही देख रहा हे।

सागरिका—(सलज्जम्) सहि, कीस परिहाससीलदाए इमं जणं लहुं करेसि।

(सखि, कस्मात्परिहासशीलतयेमं जनं लघुं करोषि।)

सागरिका—(लज्जा से) क्यों उपहास करके इस जन का तिरस्कार कर रही हो।

विदूषक—(राजानं चालयित्वा) णं भणामि—कीस एसा ओणदमुही आलिहिदेत्ति। (ननु भणामि—कस्मादेषावनतमुख्यालिखितेति।)

विदूषक—(राजा को हिलाकर) अरे, मैं पूछता हूँ कि इसे नीचा मुख की हुई क्यों चित्रित किया गया है?

राजा—वयस्य, सारिकयैव सकलमावेदितम्।

राजा—मित्र, यह तो सारिका ने ही सब बतला दिया।

सुसङ्गता—सहि, दंसिदं क्खु मेहाविणीए अत्तणो मेहावत्तणं। (सखि, दर्शित खलु मेधाविन्याऽऽत्मनो मेधावित्वम्।)

सुसङ्गता—सखी, मेधाविनी ने तो दिखला दी अपनी मेधाविता।

विदूषकः—भो वअस्स अवि सुहाअदि दे लोआणाइं? (भो वयस्य, अपि सुखयति ते लोचने?)

विदूषक—हे मित्र, क्या यह तुम्हारे नयनों को सुख देती है?

सागरिका—(ससाध्वसं स्वगतम्) किं एसो भणिस्सदित्ति जं सच्चं जेव्व जीविदमरणाणं अंतरे वट्टामि। (किमेष भणिष्यतीति यत् सत्यं जीवितमरण योरन्तरे वर्ते।

सागरिका–(आशङ्का से मन ही मन में) यह क्या कहेगा। इससे सचमुच मैं जीवन और मृत्यु के बीच में हूँ।

राजा–सुखयतीति किमुच्यते। पश्य–

राजा–सुख देती है, इसमें क्या कहना है। देखो–

कृच्छ्रादूरुयुगं व्यतीत्य सुचिरं भ्रान्त्वा नितम्बस्थल
मध्येऽस्यास्त्रिवलीतरङ्गविषमे निस्पन्दतामागता।
मद्दृष्टिस्तृषितेव संप्रति शनैरारुह्य तुङ्गौ स्तनौ
साकांक्षं मुहुरीक्षते जललवप्रस्यन्दिनी लोचने॥11॥

मुश्किल से इसकी दोनों जांघों को पार करके, चिरकाल तक कटि-प्रदेश में भ्रमण करके, उदर की (त्रिवली) तीनों रेखाओं की तरङ्गों से दुर्गम मध्य भाग में निश्चल हुई, मेरी दृष्टि मानो, प्यासी-सी अब धीरे-धीरे उन्नत स्तनों पर चढ़कर बार-बार इच्छा से जल-कणों को बहाने वाले इसके दोनों नेत्रों को देख रही है॥11॥

सुसङ्गता– सहि, सुदं तुए। (सखि श्रुतं त्वया।)

सुसङ्गता–सखी, सुना तूने?

सागरिका–(विहस्स) तुमं एव्व सुणु जाए आलेक्खविण्णाणं एव्वं वण्णअदि। (त्वमेव शृणु यस्या आलेख्यविज्ञानमेवं वर्ण्यते।)

सागरिका–(हंस कर) तू ही सुन, जिसकी चित्र-कला का इस प्रकार वर्णन किया जा रहा है।

विदूषकः–भो वअस्स, जस्स उण ईदिसीओवि एव्वं समग्गमं बहु मण्णन्ति तस्स वि अत्तणो उवरि को परिहवो जेण एत्थ एव्व ताए आलिहिदं अत्ताणअं ण पेक्खसि। (भो वयस्य, यस्य पुनरीदृश्योऽप्येवं समागमं बहु मन्यन्ते तस्याप्यात्मन उपरि कः परिभवः? येनात्रैव तया लिखितमात्मानं न प्रेक्षसे।)

विदूषक–लकिन, हे मित्र, ऐसी सुन्दरियाँ भी जिसके मिलन को इस प्रकार बहुत मानती हैं, उसका अपने प्रति यह कैसा उपेक्षाभाव है कि इस चित्रफलक में ही उसके द्वारा चित्रित किये गए स्वयं को नहीं देख रहे।

राजा–(निर्वर्ण्य) वयस्य, अनयाऽऽलिखितोऽहमिति यत्सत्यं ममात्मन्येव बहुमानः। तत्कथं न पश्यामि। पश्य–

भाति पतितो लिखन्त्यास्तस्या बाष्पाम्बुशीकरकणौघः।
स्वेदोद्गम इव करतलसंस्पर्शादेष मे वपुषि॥12॥

राजा–(ध्यान से देखकर) मित्र, इसने मेरा चित्र बनाया है इससे सचमुच मुझे अपने पर भी बहुत मान हो गया है, तब कैसे न देखूँगा? देखो–

चित्र बनाती हुई का मेरे शरीर पर गिरा हुआ यह अश्रु-बिन्दुओं के कणों का समूह उसके करतल के स्पर्श से उत्पन्न पसीना-सा प्रतीत होता हे॥12॥

सागरिका–(आत्मगतम्) हिअअ, समस्सस समस्सस। मणोरधो वि दे एत्तिअं भूमिं ण गदो। (हृदय, समाश्वसिहि समाश्वसिहि। मनोरथोऽपि त एतावतीं भूमिं न गतः।)

सागरिका–(मन में) हृदय, धैर्य रखो धैर्य रखो। यहाँ तक तो तेरा मनोरथ भी नहीं पहुँचा था।

सुसङ्गता–सहि, तुमं एव्व एक्का सलाहणीआ जाए भट्टा वि एव्वं मन्तीअदि। (सखि, त्वमेवैका श्लाघनीया यया भर्ताप्येवं मन्त्र्यते।)

सुसङ्गता—सखी, केवल तू ही प्रशंसनीय है, जो स्वामी से भी इस प्रकार कहला रही है।

विदूषकः—(पार्श्वतोऽवलोक्य) भो वअस्स, एदं क्खु सरसकमलिणीदल-मुणालविरइदं ताए मअणावत्थासूअअं सअणीअं लक्खीअदि। (भो वयस्य, एतत्खलु सरसकमलिनीदलमृणालविरचितं तस्या मदनावस्थासूचकं शयनीयं लक्ष्यते।)

विदूषक—(चारों ओर देखकर) हे मित्र, यह ताजे कमलिनी के पत्तों तथा नालों से बना हुआ, उसकी कामावस्था को सूचित करने वाला बिछावन दिख रहा है।

राजा—वयस्य, निपुणमुपलक्षितम्। तथा हि—

राजा—मित्र, ठीक जाना। क्योंकि—

परिम्लानं पीनस्तनजघनसंगादुभयत-
स्तनोर्मध्यस्यान्तः परिमिलनमप्राप्य हरितम्।
इदं व्यस्तन्यासं श्लथभुजलताक्षेपवलनैः कृशाङ्ग्याः
संतापं वदति नलिनीपत्रशयनम्॥13॥

स्थूल स्तन तथा जघन के सम्पर्क से दोनों ओर से मुरझाया हुआ, क्षीण मध्य भाग का सम्पर्क न पाकर बीच में हरा और शिथिल लता-सदृश भुजाओं के इधर-उधर फेंकने तथा चलाने से अस्तव्यस्त रचनावाला, यह कमलिनी क पत्तों का बिस्तर कृशाङ्गी के सन्ताप को सूचित कर रहा है॥13॥

टिप्पणी—

परिम्लानम्—परि + म्लै + क्तः।

पीन—प्याय् + क्त।

इस श्लोक में शिखरिणी छन्द का प्रयोग हुआ है।

अपि च

और भी

स्थितमुरसि विशालं पद्मिनीपत्रमेतत्,
कथयति न तथान्तर्मन्मथोत्थामवस्थाम्।
अतिगुरुपरितापम्लापिताभ्यां यथास्याः
स्तनयुगपरिणाहं मण्डलाभ्यां ब्रवीति॥14॥

वक्षः स्थल पर स्थित यह विशाल कमलिनी-पत्र इसके हृदय की काम से उत्पन्न दशा ो उतना नहीं कह रहा है, जितना अत्यधिक ताप से मुरझाये हुए गोल चिह्नों से इसके दोनों स्तनों की विशालता को कह रहा है॥14॥

टिप्पणी—

म्लापित—म्लै + णिच् + क्त।

विदूषकः—(नाटकीय अभिनयपूर्वक मृणालिका गृहीत्वा) भो वअस्सं, अअं अवरो ताए ज्जेव पीणत्थणुम्हाकिलिसन्तकोमलमुणालहारो। ता पेक्खदु भवं। (भो वयस्य, अयमपरस्तस्या एव पीनस्तनोष्माक्लिश्यमानकोमलमृणालहारः। तत्प्रेक्षतां भवान्।)

विदूषक—(नाट्यपूर्वक मृणालिका लेकर) हे मित्र, यह उसका ही दूसरा स्थूल स्तनों के सन्ताप से मुरझाया हुआ कोमल नालों का हार है। इसे देखो।

राजा–(गृहीत्वोरसि विन्यस्य) अयि जडप्रकृते,

राजा–(लेकर वक्ष पर रखकर) अरे मूर्ख

परिच्युतस्तत्कुचकुम्भमध्यात् किं शोषमायासि मृणालहारः।
न सूक्ष्मतन्तोरपि तावकस्य तत्रावकाशो भवतः किमु स्यात्॥15॥

मृणालहार, उसके स्तनरूपी कलशों के मध्य से गिरा हुआ तू क्यों खिन्न हो रहा है? वहाँ तेरे सूक्ष्म धागे के लिये भी स्थान नहीं है, तो फिर तेरे लिए कैसे हो सकता है?॥15॥

सुसङ्गता–(आत्मगतम्) हद्धी हद्धी गुरुअणुराओक्खित्तहिअओ भट्टा असंबद्धं पि मन्तिदुं पउत्तो। ता अदो अवरं उण ण जुत्तं उपेक्खिदुं। भोदु। एव्वं दाव। (प्रकाशम्) सहि जस्स किदे तुमं आअदा सो अअं पुरदो। चिट्ठदि। (हा धिक्, हा धिक्। गुर्वनुरागोत्क्षिप्तहृदयो भर्ताऽसंबद्धमपि मन्त्रयितुं प्रवृत्तः। तदतः परं प्नर्न युक्तमुपेक्षितुम्। भवतु। एवं तावत्। सखि, यस्य कृते त्वमागता सोऽयं पुरतस्तिष्ठति।)

सुसङ्गता–(स्वगत) आह! धिक्कार! अत्यधिक अनुराग से व्याकुल हृदय वाले स्वामी ने (अब) असम्बद्ध भी कहना प्रारम्भ कर दिया। अब इससे आगे उपेक्षा करना ठीक नहीं। अच्छा, तब ऐसा करूँ। सखी, जिसके लिए तुम यहाँ आई थी, वह तुम्हारे सामने है।

सागरिका–(सासूयम्) सुसंगदे, कस्स किदे अहं एत्थ आअदा।

सागरिका–(चिढ़ कर) सुसङ्गता, मैं यहाँ किसके लिये आई थी।

(सुसंगते, कस्य कृतेऽहमत्राऽऽगता।)

सुसङ्गता–(विहस्य) अइ अण्णसंकिदे णं चित्तफलअस्स। ता गेण्ह एदं। (अयि अन्यशङ्कित, ननु चित्रफलकस्य। तद् गृहाणैनम्।)

सुसङ्गता–(हँस कर) अरी, कुछ अन्य समझने वाली, चित्रपट के लिए। तो इसे ले लो।

सागरिका–(सरोषम्) अउसलम्हि तुह ईदिसांण आलावणम्। ता अण्णदो गमिस्सं। (इति गन्तुमिच्छति)। (अंकुशलाऽऽस्मि तवेदृशानामालापानाम्। तदन्यतो गमिष्यामि।)

सागरिका–(क्रोध से) मैं तेरी ऐसी बातों को नहीं समझ सकती। तो मैं अन्यत्र चली जाऊँगी। (यह कहकर जाना चाहती है।)

सुसङ्गता–(सागरिका हस्ते गृहीत्वा) अइ असहणे, इह दाव मुहुत्तं चिट्ठ जाव इमादो कअलीघिरादो चित्तफलअं गेण्हिअ आअच्छामि। (अयि असहने, इह तावन्मुहूर्तं तिष्ठ यावदस्मात्कदलीगृहाच्चित्रफलकं गृहीत्वागच्छामि।)

सुसङ्गता–(सागरिका का हाथ पकड़ कर) अरी कोप करने वाली, क्षण भर तो यहाँ ठहर, जब तक मैं कदली–गृह से चित्रपट लेकर आती हूँ।

सागरिका–सहि, एव्वं करेहि। (सखि, एव कुरु।)

सागरिका–सखी, ऐसा ही कर।

(सुसङ्गता कदलीगृह की ओर घूमती है = सुसंगता कदलीगृहाभिमुखं परिक्रामति)

विदूषकः–(सुसंगता दृष्टवा ससंभ्रमम्) भो वअस्स, पच्छादेहि एदं चित्त फलअं। एसा क्खु देवीए परिचारिआ सुसंगदा आअदा। (भो वयस्य, प्रच्छादयैतं चित्रफलकम्। एषा खलु देव्याः परिचारिका सुसंगताऽऽगता।)

विदूषक–(सुसङ्गता को देखकर घबराहट से) ऐ मित्र, इस चित्रपट को छिपा लो। यह महारानी की सेविका सुसङ्गता आ रही है।

(राजा पटान्तेन फलकमाच्छादयति = राजा आंचल से फलक को ढकता है)

सुसङ्गता–(उपसृत्य) जअदु जअदु भट्टा। (जयतु जयतु भर्ता।)

सुसङ्गता–(समीप आकर) स्वामी की जय हो।

राजा–सुसंगते, स्वागतम्। इहोपविश्यताम्।

राजा–सुसङ्गता, तेरा स्वागत है। यहाँ बैठो।

(सुसंगतोपविशति = सुसङ्गता बैठती है)

राजा–सुसंगते, कथमिहस्थोऽहं भवत्या ज्ञातः।

राजा–सुसंगता, यहाँ स्थित हमें तुमने कैसे जा लिया?

सुसंगता–(विहस्य) भट्टा केवलं तुमं। अअं चित्तफलएण सह सव्वो वुतन्तो मए विण्णादो। ता देवीए गद्अ जिवेदइस्सं। (इति गन्तुमिच्छति)।

सुसंगता–(हँसकर) स्वामिन्, केवल तुम्हें ही नहीं, बल्कि चित्रपट सहित यह सारी बात भी मैंने जान ली है। तो अब जाकर महारानी से कह दूँगी।

(भर्तः, न केवलं त्वम्, अयमपि चित्रफलकेन सह सर्वो वृत्तान्तो मया विज्ञातः। तद्देव्यै गत्वा निवेदयामि।)

विदूषकः–(अपवार्य सभयम्) भो वअस्स, सव्वं सम्भावीअदि। मुहरा क्खु एसा गब्भादासी। ता पारितोसिएण संपीणेहि णं। (भो वयस्य, सर्व संभाव्यते। मुखरा खल्वेषा गर्भदासी। तत्पारितोषिकेण संप्रीणयैनाम्।)

विदूषक–(एक ओर की होकर, भय से) ऐ मित्र, यह सब सम्भव है। यह गर्भ की दासी बड़ी वाचाल है। इसलिये इनाम से इसे प्रसन्न करो।

राजा–युक्तमुक्तं भवता। (सुसङ्गता हस्ते गृहीत्वा) सुसंगते, क्रीडामात्रमेवैतत्। अकारणे त्वया देवी न खेदयितव्या। इदं ते पारितोषिकम्। (इति कर्णाभरणं प्रयच्छति)।

राजा–आपने ठीक कहा है। (सुसङ्गता का हाथ पकड़ कर) सुसंगता, यह तो खेल-भर था। तुम्हें व्यर्थ देवी को दुःखी नहीं करना चाहिये। लो, यह तुम्हारा पुरस्कार है। (कर्णाभूषण देता है)

सुसङ्गता–(प्रणम्य सस्मितम्) भट्टा अलं सङ्काए। मए वि भट्टिणो पसादेण कीलिदं जेव्व। ता किं कण्णाहरणएण। एस्सो ज्जेव में गरुओ पसाओ जं कीस तुए अहं एत्थ चितफलए आलिहिदित्ति कुविदा मे पिअसही साअरिआ। ता गदुअ पसादेदु णं भट्टा। (भर्तः, अलं शंकया। मयाऽपि भर्तुः प्रसादेन क्रीडितमेव। तत्किं कर्णाभरणेन। एष एव मे गुरुः प्रसादो यत् कस्मात् त्वयाऽहमत्र चित्रफलक आलिखितेति कुपिता मे प्रियसखी सागरिका। तद् गत्वा प्रसादयत्वेनां भर्ता।)

सुसंगता–(प्रणाम करके मुस्कराते हुये) स्वामी, मत डरिये। मैंने भी स्वामी के प्रसाद से खेल ही किया है। इसलिये कर्णाभूषण से क्या? मुझ पर स्वामी का यही महान् प्रसाद है कि–तूने इस चित्रपट में मेरा चित्र क्यों बनाया, इस कारण मेरी सखी सागरिका कुपित हो गई है, स्वामी चलकर उसे प्रसन्न कर दें।

राजा–(ससंभ्रममुत्थाय) वकासौ क्कासौ।

राजा–(जल्दी से उठकर) वह कहाँ है? कहाँ है?

सुसङ्गता–इदो इदो भट्टा। (इत इतो भर्ता।)

सुसङ्गता–स्वामी इधर चलिये, इधर।

विदूषकः–भो गेण्हामि एवं चित्तफलअं। कदा वि पुणो वि एदिणा कज्जं भविस्सदि। (भोः गृह्णाम्येतं चित्रफलकम्। कदापि पुनरप्येतेन कार्यं भविष्यति।)

विदूषक–अरे, इस चित्रपट को लिये लेता हूँ। कभी फिर नहीं इससे काम पड़ेगा।

(सर्वे कदलीगृहान्निष्क्रान्ताः = सब कदलीगृह से बाहर निकलते हैं)

सागरिका–(राजानं दृष्टवा सहर्षं ससाध्वसं सकम्पं च स्वगतम्) हद्धी हद्धी। एदं पेक्खिअ अदिसद्धसेण ण सक्कणोमि पदादो पदं वि चलिदुम्। ता कि दाणिं एत्थ करिस्सं। (हा धिक्, हा धिक्। एतं प्रेक्ष्यातिसाध्वसेन न शक्नोमि पदात् पदमपि चलितुम्। तत्किमिदानीमत्र करिष्यामि।)

सागरिका–(राजा को देखकर हर्ष, भय तथा कम्पन्न सहित) हाय! धिक्! इसे देखकर अत्यधिक घबराहट के कारण मैं एक पग भी नहीं चल पा रही। तो अब इस दशा में क्या करूँ?

विदूषकः–(सागरिकां दृष्टवा) ही ही भो, अच्चरिअं अच्चरिअं। ईदिसं रूवं माणुसलोए ण पुणो दीसदि। ता तक्केमि पआवदिणो वि एवं णिम्मिअ विम्हओ समुप्पण्णो त्ति। (ही ही भोः, आश्चर्यमाश्चर्यम्। ईदृशं रूपं मनुष्यलोके न पुनर्दृश्यते। तत्तर्कयामि प्रजापतेरपीदं निर्माय विस्मयः समुत्पन्न इति।)

विदूषक–(सागरिका को देखकर) अरे! रे! आश्चर्य है! ऐसा रूप मनुष्यलोक में तो अन्यत्र देखा नहों। इससे मैं सोचता हूँ कि इसे बनाकर प्रजापति को भी विस्मय हो गया होगा।

राजा–वयस्य, ममाप्येवं मनसि वर्तते।

दृशः पृथुतरीकृता जितनिजाब्जपत्रत्वि-
षश्चतुर्भिरपि साधु साध्विति मुखैः समं व्याहृतम्।
शिरांसि चलितानि विस्मयवशाद् ध्रुवं वेधसा
विधाय ललनां जगत्रयललामभूतामिमाम्॥16॥

राजा–मित्र, मेरे भी मन में ऐसा ही आ रहा ७है।

निश्चय ही ब्रह्मा ने तीनों लोकों की भूषण स्वरूप इस ललना को बनाकर विस्मय-वश अपने (वास-स्थान) पद्म के पत्तों की कान्ति को जीतने वाले नेत्र विस्फारित किये होंगे, चारों मुखों से एक साथ 'बहुत अच्छा, बहुत अच्छा' यह कहा होगा और उसके सिर हिल उठे होंगे॥16॥

टिप्पणी–

चलितानि–चल् + क्त।

इस श्लोक में उत्प्रेक्षा अलङ्कार तथा पृथ्वी छन्द का प्रयोग हुआ है।

सागरिका–(सासूयं सुसंगतामालोक्य) सहि, ईदिसो चित्तफलओ तुए आणीदो। (इति गच्छति)। (सखि, ईदुशश्चित्रफलकस्त्वयाऽऽनीतः।)

सागरिका–(चिढ़कर सुसङ्गता को देखकर) सखी, ऐसा चित्रपट तू लाई। (यह कहकर चली जाती है)

दृष्टिं रुषा क्षिपसि भामिनि यद्यपीमां
स्निग्धेयमेष्यति तथापि न रूक्षभावम्।
त्यक्त्वा त्वरां व्रज पदस्खलितैरयं ते
खेदं करिष्यति गुरुर्नितरां नितम्बः॥17॥

राजा–हे सुन्दरी, यद्यपि तू रोष से यह दृष्टि डाल रही है, फिर भी स्नेहमयी यह रूखी नहीं होगी। तू जल्दी छोड़कर चल। (अन्यथा) पैर के फिसल जाने से यह तेरा भारी नितम्ब तुझे अत्यधिक कष्ट देगा ॥17॥

सुसंगता–भट्टा, अदिकोपणा क्खु एसा। ता हत्थे गेण्हिअ पसादेहिणं। (भर्तः, अतिकोपना खल्वेषा। तद्धस्ते गृहीत्वा प्रसादयैनाम्।)

सुसंगता–स्वामी, यह बड़ी कोपशील है। इसलिए इसे हाथ पकड़ कर लाओ।

राजा–(सानन्दम्) यथाह भवती। (सागरिकां हस्ते गृहीत्वा स्पर्शसुखं नाटयति)।

राजा–(आनन्द से) जैसा आप कहें। (सागरिका को हाथ से पकड़ कर स्पर्श के सुख का अभिनय करता है।)

विदूषकः–भो एसा क्खु तुए अपुव्वा सिरी समासादिदा। (भोः, एषा खलु त्वयाऽपूर्वा श्रीः समासादिता।)

विदूषक–अरे, तूने निश्चय ही यह अनुपम श्री पा ली है।

राजा–वयस्य सत्यम्।

राजा–मित्र, सचमुच,

श्रीरेषापाणिरप्यस्याः पारिजातस्य पल्लवः।
कुतोऽन्यथा स्त्रवत्येष स्वेदच्छद्मामृतद्रवः ॥18॥

यह श्री है, और इसका हाथ पारिजात का किसलय है। नहीं तो, यह स्वेद के व्याज से अमृत-रस कहाँ से बह रहा है ॥18॥

सुसंगता–सहि, अदिणिट्ठुरा दाणिं सि तुमं जा एव्वं भट्टिणा हत्थेवलम्बिदा वि कोवं ण मुञ्चेसि। (सखि, अतिनिष्ठुरेदानीमसि त्वं यैवं भर्त्रा हस्तेऽवलम्बितापि कोपं न मुञ्चसि।)

सुसंगता–सखी, तू अब बड़ी कठोर है, जो इस प्रकार स्वामी द्वारा हाथ में धारण की गई भी कोप नहीं छोड़ रही।

सागरिका–(सभ्रूभङ्गम्) अयि सुसंगदे, अज्ज वि ण विरमेमि। (अयि सुसंगते, अद्यापि न विरमसि।)

सागरिका–(भौं टेढ़ी करके) अरी सुसंगता, तू अभी भी नहीं रुकेगी।

राजा–अयि प्रसीद। न खलु सखीजने युक्त एवं कोपानुबन्धः।

राजा–अयि, प्रसन्न हो। सखियों पर इस प्रकार लगातार कोप ठीक नहीं है।

विदूषकः–एसा वखु अवरा देवी वासवदत्ता। (एषा खलु अपरा देवी वासवदत्ता।)

विदूषक–यह तो दूसरी महारानी वासवदत्ता है।

(राजा चौंक कर सागरिका का हाथ छोड़ देता है) (राजा सचकितं सागरिकायां हस्तं मुञ्चति)

सागरिका–(ससंभ्रमम्) सुसंगदे, किं दाणिं एत्थ करिस्सं। (सुसंगते, किमिदानीमत्र करिष्ये।)

सागरिका–(घबरा कर) सुसंगता, अब इस अवस्था में क्या करूँ?

सुसंगता–सहि, एदं तमालवीधिअं अन्तरिअ णिक्कमम्ह। (सखि, एतां तमालवीथिकामन्तरयित्वा निष्क्रमावः।)

सुसंगता–सखी, इस तमाल वृक्ष-पङ्क्ति की ओट लेकर निकल चलें।

(इति निष्क्रान्ते = दोनों निकल गईं)

राजा–(पार्श्वतोऽवलोक्य) वयस्य क्व सा तेवी वासवदत्ता?

राजा–(चारों ओर देखकर) मित्र, महारानी वासवदत्ता कहाँ है?

विदूषकः–भो ण जाणामि क्व सा? मए एसा क्खु अवरा देवी वासवदत्ता अदिदीहरोसदाएत्ति भणिदं। (भोः, न जानामि क्व सा। मयैषा खल्वपरा देवी वासवदत्ताऽतिदीर्घरोषतयेति भणितम्।)

विदूषक–अरे, मैं नहीं जानता कि वह कहाँ है। मैंने तो इसके अतिदीर्घ कोध वाली होने के कारण कहा था कि यह दूसरी महारानी वासवदत्ता है।

राजा–धिङ् मूर्ख,

राजा–छिः! मूर्ख,

प्राप्ता कथमपि दैवात्कण्ठमनीतैव सा प्रकटरागा।
रत्नावलीव कान्ता मम हस्ताद् भ्रंशिता भवता॥19॥

किसी प्रकार भाग्य से प्राप्त हुई, व्यक्त, अनुराग वाली, वह कान्ता, स्फुट कान्ति वाली रत्नावली क समान, कण्ठ में विना धारण की गई ही आपने मेरे हाथ से गंवा दी॥19॥

टिप्पणी–

इस श्लोक में उपमा अलङ्कार का अङ्गाङ्गिभाव होने से सङ्कर। आर्या छन्द। 'निरोध' प्रतिमुख सन्धि का अङ्ग।

(ततः प्रविशति वासवदत्ता काञ्चनमाला च)

(तत्पश्चात् वासवदत्ता और काञ्चनमाला प्रवेश करती हैं)

वासवदत्ता–हञ्जे कञ्चमाले, अध केत्तिअदूरे दाणिं सा अज्जउत्तेण परिगहिदा णोमालिआ। (हञ्जे काञ्चमाले, अथ कियद्दूर इदानीं साऽऽर्यपुत्रेण परिगृहीता नवमालिका?)

वासवदत्ता–सखी काञ्चनमाला, आर्यपुत्र द्वारा अपनाई हुई वह नवमालिका अब कितनी दूर है?

काञ्चनमाला–भट्टिणी, एवं कअलीघरं अदिक्कमिअ दीसदि ज्जेव्व। (भर्त्रि, एतत्कदलीगृहमतिक्रम्य दृश्यत एव।)

काञ्चनमाला–स्वामिनी, इस कदलीगृह को पार करके दिख ही रही है।

वासवदत्ता–ता आदेसेहि मग्गं (तदादेशय मार्गम्।)

वासवदत्ता–तो मार्ग बतलाओ।

काञ्चनमाला–एदु एदु भट्टिणी। (एत्वेतु भर्त्री।)

काञ्चनमाला–स्वामिनी चलिये, चलिये।

राजा–वयस्य, क्वेदानीं प्रियतमा द्रष्टव्या।

राजा–मित्र, अब प्रिया को कहाँ देखा जाय?

काञ्चनमाला–भट्टिणी, जधा समीवे भट्टा मन्तेवि तधा तक्केमि भट्टिणीं एव्व पडिवालअन्तो चिट्ठदि त्ति। ता उवसप्पदु भट्टिणी। (भर्त्रि, यथा समीपे भर्ता मन्त्रयति तथा तर्कयामि भर्त्रीमेव प्रतिपालयं-स्तिष्ठति। तदुपसर्पतु भर्त्री)

काञ्चनमाला–स्वामिनी, जैसे कि स्वामी समीप बोल रहे हैं, उससे समझती हूँ कि वह स्वामिनी की ही प्रतीक्षा कर रहे हैं। इसलिये स्वामिनी समीप जायें।

वासवदत्ता–(उपसृत्य) जअदु अज्जउत्तो। (जयतु जयत्वार्यपुत्रः)

वासवदत्ता–(समीप जाकर) आर्यपुत्र की जय हो, जय हो।

राजा–(अपवार्य) वयस्य, प्रच्छादय चित्रफलकम्। (विदूषकः कक्षायां फलकं निक्षिप्योत्तरीयेण प्रच्छायति)

राजा–(एक ओर को होकर) मित्र, चित्रपट को ढक लो।

(विदूषक चित्रपट को बगल में रखकर चादर से ढकता है)

वासवदत्ता–अज्जउत्त, अध कुसुमिदा णोमालिआ।

वासवदत्ता–आर्यपुत्र, क्या नवमालिका पर फूल आ गये?

(आर्यपुत्र, अथ कुसुमिता नवमालिका।)

राजा–देवी, प्रथममिहागतैरप्यस्माभिस्त्वं चिरयसीति नैव दृष्टा। तदेहि। समेतावेव सां पश्यावः।

राजा–देवी, हमने यहाँ पहले आकर भी इसलिये नहीं देखी, क्योंकि तुम्हें देर थी। तब आओ। दोनों साथ ही देखें।

वासवदत्ता–(निर्वर्ण्य) अज्जउत मुहरागादो ज्जेव मए जाणिदं जधा कुसुमिदा णोमालिअत्ति। ता ण गमिस्सं। (आर्यपुत्र, मुखरागादेव मया ज्ञातं यथा कुसुमिता नवमालिकेति! तन्न गमिष्यामि।)

वासवदत्ता–(ध्यान से देखकर) आर्यपुत्र, (आपके) मुख की कान्ति से ही मैंने जान लिया कि नवमालिका पर कुसुम आ गये हैं। इसलिये मैं नहीं आऊँगी।

विदूषकः–ही ही भो, जिदं जिदं अम्हेहिं। (इति बाहू प्रसार्य नृत्यति। नृत्यतः कक्षान्तरात् फलकः पतति)। (ही ही भोः, जितं जितमस्माभिः।)

विदूषक–आ! हा! हा! अरे, हम जीत गये, जीत गये। (दोनों भुजायें फैलाकर नाचता है। नाचते हुये की बगल से फलक गिर पड़ता है)।

(राजापवार्याङ्गुल्या विदूषकं तर्जयति)

(राजा एक ओर को होकर विदूषक को अंगुली के संकेत से सचेत करता है)

विदूषकः–(अपवार्य) भो मा कुप्प। तूण्हीओ चिट्ठ। अहं जेव्व एत्थ वाणिस्सं। (भो मा कुप्य। तूष्णीकस्तिष्ठ। अहमेवात्र ज्ञास्यामि।)

विदूषक–(मुँह फेर कर) अरे, कोप न करो। चुप रहो। इस विषय में मैं स्वयं जान लूँगा।

काञ्चनमाला–(फलकं गृहीत्वा निरूप्यापवार्य) भट्टिणी, पेक्ख दाव किं एत्थ चित्तफलए आलिहिदं। (भर्त्रि, प्रेक्षस्व तावत् किमत्र चित्रफलक आलिखितम्।)

काञ्चनमाला–(फलक लेकर, ध्यान से देखकर, मुख दूसरी ओर करके) स्वामिनी, देखो तो इस चित्रपट में क्या लिखा है?

वासवदत्ता–(निरूप्यापवायं) कञ्चणमाले, अअं अज्जउत्तो इअं उण साअरिआ। किं ण्णेदं। (काञ्चनमाले, अयमार्यपुत्रः। इय पुनः सागरिका। किं न्वेतत्?)

वासवदत्ता–(ध्यान स देखकर, एक ओर को) काञ्चनमाला, यह आर्यपुत्र है और यह सागरिका है। यह क्या है?

काञ्चनमाला–भट्टिणी, अहं वि एदं एव्व चिन्तेमि। (भर्त्ति, अहमप्येतदेव चिन्तयामि।)

काञ्चनमाला–स्वामिनी, मैं भी यही समझती हूँ।

वासवदत्ता–(सकोपहासम्) अज्जउत्त, केण एदं आलिहिदं? (आर्यपुत्र, कनेदमालिखितम्?)

वासवदत्ता–(कोप और हास के साथ) आर्यपुत्त, यह किसने बनाया है?

राजा–(सवैलक्ष्यस्मितमपवार्य) वयस्य, किं ब्रवीमि।

राजा–(लज्जा और मुस्कराहट के साथ, मुँह फेर कर) मित्र क्या कहूँ?

विदूषक–(अपवार्य) भो मा चिन्तेहि। अहं उत्तरं दाइस्सं। (प्रकाशं वासवदत्ता प्रति) भोदि, मा अण्णधा संभावेहि। अप्पा किल दुक्खं आलिहीअदित्ति मम वअणं सुणिअ पिअवअस्सेण एदं आलेक्ख-विण्णाणं दंसिदं। (भोः, मा चिन्तयं अहमुत्तरं दास्यामि। भवति, मान्यथा संभावय। आत्मा किल दुःखमालिख्यत इति मम वचनं श्रुत्वा प्रियवयस्येनैतदालेख्यविज्ञानं दर्शितम्।)

विद्षक–(एक ओर को) अरे, चिन्ता न करो। मैं उत्तर दूंगा। (प्रकट में, वासवदत्ता को लक्ष्य करके) माननीय, अन्य कुछ न समझिये। 'अपना चित्र कठिनता से बनाया जा सकता है। मेरे इस वचन को सुनकर प्रिय मित्र ने यह चित्र-कला की प्रवीणता प्रदर्शित की है।

राजा–यथा वसन्तकस्तथैवैतत्।

राजा–वसन्तक जैसा कह रहा है, यह बिल्कुल वैसा ही है।

वासवदत्ता–(फलकं निर्दिश्य) अज्जउत्त, एसा वि जा अवरा तुह समीवे आलिहिदा ता किं अज्ज-वसन्तअस्स विण्णाणम् (आर्यपुत्र, एषाऽपि यापरा तब समीप आलिखिता तत्किमार्यवसन्तकस्य विज्ञानम्।)

वासवदत्ता–(चित्रफलक की ओर संकेत करके) आर्यपुत्र, यह जो दूसरी तुम्हारे पास अङ्कित की गई है, वह क्या आर्य वसन्तक की कला है?

राजा–(सवैलक्ष्यस्मितम्) देवि, अलमन्यथा शङ्कया। इयं हि कापि कन्यका स्वचेतसैव परिकल्प्याऽऽलिखिता। न तु दृष्टपूर्वा।

राजा–(लज्जा के साथ मुस्करा कर) महारानी और कोई संदेह न कीजिये। यह किसी कन्या का अपने मन से ही कल्पना करके चित्र बना दिया है। लेकिन यह पहले कभी देखी नहीं है।

विदूषकः–भोदि, सच्चं सच्चं। सबामि बम्हसुत्तेण जइ कदा वि अम्हेहि ईदिसी विट्ठपुव्वा। (भवति, सत्यं सत्यम्। शपे ब्रह्मसूत्रेण यदि कदाप्यस्माभिरीदृशी दृष्टपूर्वा।)

विदूषक–माननीय, यह बिल्कुल सत्य है। मैं यज्ञोपवीत की शपथ लेता हूँ जो ऐसी हमने कभी देखी हो।

काञ्चनमाला–(अपवार्य) भट्टिणी, घुणक्खरं पि कदा वि संभवदि ज्जेव्व। (भर्त्रि घुणाक्षरमपि कदापि संभवत्येव।)

काञ्चनमाला–(एक ओर को) स्वामिनी, कभी संयोगवश भी हो सकता है।

वासवदत्ता–(अपवार्य) अइ उजुए, वसन्तओ क्खु एसो। ण जाणाति तुणं एवस्य वङ्कमणिदाइं (प्रकाशम्) अज्जउत्त, मम उण एदं चित्तफलअं पेक्खिअ सीसवेअणा समुप्पण्णा। ता गमिस्सं अहं। (प्रस्थिता)। (अयि ॠजुके, वसन्तकः खल्वेषः। त्वमेतस्य वक्रभणितानि न जानासि। आर्यपुत्त, मम पुनरिदं चित्रफलकं प्रेक्ष्य शीर्षवेदना समुत्पन्ना। तद् गमिष्याम्यहम्।)

वासवदत्ता—(एक ओर को) अरी भोली, यह वसन्तक है। तू इसकी टेढ़ी बातों को नहीं समझती। (प्रकट में) आर्यपुत्र, मेरे तो इस चित्र को देखते हुए सिर में पीडा हो गई है। मैं जा रही हूँ। (प्रस्थान करती है)।

राजा—(पटान्तेन गृहीत्वा) देवि,

राजा—(आँचल पकड़ कर) देवी,

प्रसीदेति ब्रूयामिदमसति कोपे न घटते
करिष्याम्येवं नो पुनरिति भवेदभ्युपगमः।
न मे दोषोऽस्तीति त्वमिदमपि च ज्ञास्यति मृषा
किमेतस्मिन्वक्तुं क्षममिति न वेद्मि प्रियतमे ॥20॥

यदि 'प्रसन्न होआ' यह कहूँ तो यह कोप न होने पर ठीक नहीं बैठता; यदि 'फिर ऐसा नहीं करूँगा' यह कहूँ तो दोष की स्वीकृति हो जायेगी; यदि 'मेरा दोष नहीं है' यह कहूँ तो तुम इसे भी झूठ समझोगी, प्रियतमे, इस परिस्थिति में क्या कहना उचित है, मैं यह नहीं समझ पा रहा॥20॥

टिप्पणी—

इस श्लोक में काव्यलिङ्ग अलङ्कार तथा शिखरिणी छन्द का प्रयोग हुआ है।

वासवदत्ता—(सविनयं पटान्तमाकर्षन्ती) अज्जउत्त, मा अण्णधा संभावेहि। सच्चं एव्वं मं सीसवेअणा बाधेदि। ता गमिस्सं। आर्यपुत्र, मान्यथा सम्भावय। सत्यमेव मां शीर्षवेदना बाधते। तद्गमिष्यामि।

वासवदत्ता—(विनयपूर्वक आँचल को खींचते हुये) आर्यपुत्र, और कुछ न समझिए। सचमुच मुझे सिर की पीड़ा सता रही है। इसलिये जा रही हूँ।

(उभे निष्क्रान्ते) (दोनों चली जाती हैं)

विदूषक—(पार्श्वाण्यवलोक्य) भो, दिट्ठिआ वड्ढसि। क्खेमेण अम्हाणं अदिक्कन्ता अआलवादावली। (भोः, दिष्ट्या वर्धसे। क्षेमेणास्माकमतिक्रान्ताऽकाल-वातावली।)

विदूषक—(चारों ओर देखकर) अरे, तुम्हारा बड़ा सौभाग्य है। यह अकाल की आँधी हमारे क्षेमपूर्वक बीत गई।

राजा—धिङ् मूर्ख कृतं परितोषेण। यान्त्याऽऽभिजान्यान्निगूढो न लक्षितस्त्वया देव्याः कोपानुबन्धः।

राजा—छिः! मूर्ख, सन्तोष से बस करो। जाती हुई देवी के भद्रता से छिपाये गये कोप के प्रवाह को तूने देखा नहीं।

भ्रूभङ्गे सहसोद्गतेऽपि वदनं नीतं परां नम्रता-
मीषन्मां प्रति भेदकारि हसितं नोक्तं वचो निष्ठुरम्।
अन्तर्बाष्पजडीकृतं प्रभुतया चक्षुर्न विस्फारितं
कोपश्च प्रकटीकृतो दायितया मुक्तश्च न प्रश्रयः॥21॥

अकस्मात् भ्रूकुटि चढ़ जाने पर भी मुख बहुत नीचा कर लिया; मेरे प्रति कुछ भेद-भरा मन्द हास किया; कोई निष्ठुर वचन नहीं कहा; आत्मवशिता के कारण अन्दर भरे आँसुओं से जड़ की हुई आँखें मेरी ओर नहीं निकालीं। प्रिया ने अपना कोप तो प्रकट कर दिया, लेकिन विनय नहीं छोड़ा॥21॥

टिप्पणी—

इस श्लोक में अयन्तज योषिदलङ्कारों में से 'औदार्य' नामक अलङ्कार का उदाहरण है तथा शार्दूल विक्रीडत छन्द का प्रयोग हुआ है।

तदेहि। देवीमेव प्रसादयितुं गच्छावः।

तब आओ, दोनों महारानी को ही प्रसन्न करने के लिये चलें।

(इति निष्क्रान्ताः सर्वे) (सब का प्रस्थान)

(इति कदलीगृहो नाम द्वितीयोऽङ्कः= कदलीगृह नामक द्वितीय अङ्क समाप्त)

6.4 पारिभाषिक शब्दावली

स्थायिभाव – शिव और पार्वती आलम्बन विभाव है; रति स्थायिभाव है, जो कि शिव के 'सस्पृहलोचनत्व' और पार्वती के 'सपुलकस्वेदोद्‌गमोत्कम्पत्व' रूप अनुभावों से प्रकट होता है, पार्वती का 'ह्रीमती' होना संचारिभाव का द्योतन है।

द्विवृषभाः – 'उपमित समास। कर्मधारय-समास में वृषभ, पुङ्गव व्याघ्र आदि शब्द अन्त में आने पर 'श्रेष्ठ' अर्थ के वाचक होते हैं–स्युरुत्तरपदे व्याघ्रपुङ्गवर्षभकुञ्जराः।

विदूषक - संस्कृत नाटकों का हास्यपात्र जो अधिकांश ब्राह्मण होता है।

विग्रह - युद्ध, शत्रुओं के अभाव से जिसकी युद्ध की कथा समाप्त हो गई है, 2. विग्रह = शरीर, शिव ने कामदेव के शरीर को भस्म कर दिया था।

मधुमास - मधो : + मास : – षष्ठी तत्पुरुष समास। वसंत ऋतु में फाल्गुन के महीने को मधुमास कहते है।

निरोध - आर्य छन्द 'निरोध' प्रतिमुख संधि का अंग है

6.5 अभ्यासार्थ प्रश्न

बोधगम्य प्रश्न

अधोलिखित श्लोकों का ससन्दर्भ अनुवाद करते हुए तत्सम्बन्धी व्याकरणात्मक टिप्पणी प्रस्तुत कीजिये–

1. औत्सुक्येन कृतत्वरा सहभुवा व्यावर्तमाना ह्रिया
   तैस्तैर्बन्धुवधूजनस्य वचनैर्नीताभिमुख्यं पुनः।
   दृष्टवाग्रे वरमात्तसाध्वसरसा गौरी नवे संगमे
   सरोहत्पुलका हरेण हसता श्लिष्टा शिवायाऽस्तु वः॥1.2॥

2. प्रारम्भेऽस्मिन्स्वामिनो वृद्धिहेतौ दैवेनेत्थं दत्तहस्तावलम्बे।
   सिद्धेर्भ्रान्तिर्नास्ति सत्यं तथापि स्वेच्छाचारी भीत एवास्मि भर्तुः॥1.7॥

3. धारायन्त्रविमुक्तसंततपयः पूरप्लुते सर्वतः सद्यः
   सान्द्रविमर्दकर्दमकृतक्रीडे क्षणं प्राङ्गणे।
   उद्दामप्रमदाकपोलनिपतत्सिन्दूररागारुणैः सैन्दूरीक्रियते
   जनेन चरणन्यासैः पुरः कुट्टिमम्॥1.11॥

4. स्रस्तः स्रग्दामशोभां त्यजति विरचितामाकुलः केशपाशः
   क्षीबाया नूपुरौ च द्विगुणतरमिमौ क्रन्दतः पादलग्नौ।
   व्यस्तः कम्पानुबन्धादनवरतमुरो हन्ति हारोऽयमस्याः
   क्रीडन्त्याः पीडयेव स्तनभरविनमन्मध्यभङ्गानपेक्षम्॥1.16॥

5. उद्यद्विद्रुमकान्तिभिः किसलयैस्ताम्रां त्विषं बिभ्रतो
   भृङ्गालीविरुतैः कलैरविशदव्याहारलीलाभृतः।

घूर्णन्तो मलयानिलाहतिचलै: शाखासमूहैर्मुहुर्भ्रान्तिं
प्राप्य मधुप्रसङ्गमधुना मत्ता इवामी द्रुमा:॥1.17॥

6. उदयतटान्तरितमियं प्राची सूचयति दिङ् निशानाथम्।
परिपाण्डुना मुखेन प्रियमिव हृदयस्थितं रमणी॥1.24।

7. नष्टं वर्षवरैर्मनुष्यगणनाभावादपास्य त्रपा-मन्त:
कञ्चुकिकञ्चुकस्य विशति त्रासादयं वामन:।
पर्यन्ताश्रयिभिर्निजस्य सदृशं नाम्न: किरातै:
कृतं कुब्जा नीचतयैव यान्ति शनकैरात्मेक्षणाशङ्किन:॥2.3॥

8. कण्ठे श्रीपुरुषोत्तमस्य समरे दृष्टवा मणि शत्रुभि, र्नष्टं
मन्त्रबलाद्वसन्ति वसुधामूले भुजङ्गा हता:।
पूर्वं लक्ष्मणवीरवानरभटा ये मेघनादाहता:
पीत्वा तेऽपि महौषधेर्गुणनिधेर्गन्धं पुनर्जीविता:॥2.5॥

9. दुर्वारां कुसुमशरव्यथां वहन्त्या कामिन्या यदभिहितं पुर: सखीनाम्।
तद् भूय: शिशुशुकसारिकाभिरुक्तं धन्यानां श्रवणपथातिथित्वमेति॥2.8॥

10. लीलावधूतपद्मा कथयन्ती पक्षपातमधिकं न:।
मानसमुपैति केयं चित्रगदा राजहंसीव॥9॥

11. परिम्लानं पीनस्तनजघनसंगादुभयतस्तनोर्मध्यस्यान्त: परिमिलनमप्राप्य हरितम्।
इदं व्यस्तन्यासं श्लथभुजलताक्षेपवलनै: कृशाङ्ग्या: संतापं वदति नलिनीपत्रशयनम्॥13॥

12. दृष्टिं रुषा क्षिपसि भामिनि यद्यपीमां स्निग्धेयमेष्यति तथापि न रूक्षभावम्।
त्यक्त्वा त्वरां व्रज पदस्खलितैरयं ते खेदं करिष्यति गुरुर्नितरां नितम्ब:॥17॥

6.6 सारांश

प्रस्तुत इकाई में हम रत्नावली के प्रथम अंक तथा द्वितीय अंक का विधिवत अध्ययन किया । यहाँ प्रथम अंक के प्रारम्भ में राजा का प्रधानामात्य योगन्धरायण दैव की अनुकूलता ता सहायता का संकेत करता है जिसके कारण उदयन के साथ परिणय के लिए आने वाले सिंहलेश्वर की राजकन्या रत्नावली जहाज के डूब जाने पर भी बच जाती है तथा वह मन्त्री के पास किसी सामुद्रिक वणिक् के द्वारा लाई जाती है। मन्त्री उसे सागरिका के नाम से वासवदत्ता की देख-रेख में रख आता है। द्वितीय अंक में सागरिका अपनी सखी सुसंगता के साथ चित्तविनोद के लिए राजा का चित्र अंकित करती है जिसके पास सुसंगता सागरिका का ही चित्र खींचकर उसे रतिसनाथ बना देती है। कुछ गुप्त प्रणय की भी चर्चा है।

6.7 संदर्भ ग्रन्थ सूची

1. रत्नावली, किरणावली संस्कृतहिन्दी व्याख्योपेत, पं. राजेश्वरशास्त्री मुसलगांवकर,चौखम्भा संस्कृत प्रतिष्ठान, वाराणसी, 2004.
2. रत्नावली,शिवराज शास्त्री, साहित्य भण्डार, मेरठ, 1994.
3. संस्कृत के प्रमुख नाटककार तथा उनकी कृतियाँ, डॉ. गंगासागर राय, चौखम्भा संस्कृत भवन दिल्ली, 2001.
4. संस्कृत सुकवि समीक्षा,पं. बलदेव उपाध्याय, चौखम्भा विद्या भवन, वाराणसी, 1963.
5. संस्कृत साहित्य का इतिहास,पं. बलदेव उपाध्याय,शारदा प्रकाशन, वाराणसी, 1995.

इकाई – 7

रत्नावली – तृतीय एवं चतुर्थ अंक

इकाई की रूपरेखा

7.0 उद्देश्य
7.1 प्रस्तावना
7.2 तृतीयोऽङ्कः
7.3 चतुर्थोऽङ्कः
7.4 पारिभाषिक शब्दावली
7.5 अभ्यासार्थ प्रश्न
7.6 सारांश
7.7 संदर्भ ग्रन्थ सूची

7.0 उद्देश्य

1. मानवस्वभाव का अध्ययन।
2. विभिन्न जीवनदर्शनों का परिज्ञान।
3. संवाद शिक्षा।
4. भावाभिव्यक्ति।
5. अवस्थानुकृति अवसर।
6. विभिन्न परिस्थितियों का ज्ञान।
7. हितोपदेश प्रदान करना।
8. विश्रान्ति प्रदान करना।
9. स्वस्थ मनोरञ्जन।

7.1 प्रस्तावना

संस्कृत नाटक अभिनय वाङ्मय में अपना महत्त्वपूर्ण स्थान रखते हैं। रत्नावली नाटिका भी अपने नाट्यकौशल से दर्शकों तथा पाठकों का चित्ताकर्षण करती है। प्रस्तुत इकाई में रत्नावली नाटिका के तृतीय तथा चतुर्थ अंक का विधिवत अध्ययन किया जायेगा। तृतीय अंक इस नाटिका का हृदय है तथा कवि की मौलिक सूझ का उज्ज्वल उदाहरण है। वेष–परिवर्तन से उत्पन्न भ्रान्ति के कारण जायमान घटना–सांकर्य बड़ा ही सुन्दर है तथा शेक्सपीयर के 'कॉमेडी ऑफ एरर्स' नामक नाटक के समान है। सागरिका वासवदत्ता का तथा सुसंगता दासी काञ्चनमाला का वेष धारण कर राजा से पूर्व निश्चय के अनुसार मिलने आती है, परन्तु असली वासवदत्ता के इनसे पहले ही आ जाने के कारण सारा स्वरूप बिगड़ जाता है। असली और नकली का विभेद बड़ी ही हास्यजनक स्थिति पदा करता है जिससे अपमानित मानकर सागरिका लतापाश के द्वारा मरने जाती है, परन्तु राजा उसे बचाता है। चतुर्थ अंक में जादूगर के 'अग्निदाह' का प्रभावशाली दृश्य है। सागरिका भूगर्भ में कैदकर रखी गयी है। वह वहाँ से बचाकर सभा में लाई जाती है जहाँ उसके पिता के मन्त्री वसुभूति तथा कंचुकी वाभ्रव्य उसे विदूषक के गले में लटकने वाली 'रत्नावली' की सहायता से पहचानते हैं तथा वासवदत्ता स्वयं प्रसन्न होकर अपनी भगिनीभूता रत्नावली से राजा का विवाह करा देती है। यही इस रत्नावली नाटिका का मंगलमय अवसान है।

7.2 तृतीयोऽङ्कः

(ततः प्रविशति मदनिका) (मदनिका प्रवेश करती है)

मदनिका–(आकाशे) कोसम्बिए कोसम्बिए, अवि विट्ठा तुए भट्टिणो सआसे कञ्चणमाला ण वा। (कर्ण दत्वा) किं भणासि–'को वि कालो ताए आअच्छिअ गदाए त्ति। ता कहिं दाणिं पेक्खिस्सं। (अग्रतोऽवलोक्य) कहं एसा क्खु कञ्चनमाला इदो ज्जेव्व आअच्छदि। ता जाव णं उवसप्पामि। (कौशाम्बिके कौशाम्बिके, अपि दृष्टा त्वया भर्तुः सकाशे काञ्चनमाला न वा। किं भणसि–कोऽपि कालस्तस्या आगत्य गताया इति। तत्कुत्रेदानीं प्रेक्षिष्ये। कथमेषा खलु काञ्चनमालेत एवाऽऽगच्छति। तद्यावदेनामुपसर्पामि।)

मदनिका–(आकाश की ओर लक्ष्य करके) कौशाम्बिका, कौशाम्बिका, तूने स्वामी के समीप काञ्चनमाला देखी है या नहीं? (कान लगाकर) क्या कह रही है? उसे आकर गई तो तुम्हे कितना ही समय हो गया। तब अब कहाँ देखूँ? (आगे देखकर) अरे! कैसे! यह काञ्चनमाला तो इधर ही आ रही है। तो मैं इसके समीप जाती हूँ।

(ततः प्रविशति काञ्चनमाला) (काञ्चनमाला प्रवेश करती है)

काञ्चनमाला–(सोत्प्रासम्) साहु रे अमच्चवसन्तअ, साहु। अदिसइदो तुए अमच्चजोअन्धराअणो वि इमाए संधिविग्गहचिन्ताए। (साधु रे अमात्यवसन्तकः, साधु। अतिशयितस्त्वयामात्ययौगन्धरायणोऽप्यनया संधिविग्रहचिन्तया।)

काञ्चनमाला–(व्यङ्ग्यपूर्ण हास्य से) धन्य है, रे अमात्य वसन्तक, धन्य है। तूने इस सन्धि-विग्रह की चिन्ता में अमात्य यौगन्धरायण को भी मात दे दी।

मदनिका–(सस्मितमुपसृत्य) हला कञ्चणमाले, किं अज्जवसन्तएण किदं जेण सो एव्वं सलाहीअदि। (हला काञ्चनमाले, किमार्यवसन्तकेन कृतं येन स एवं श्लाघ्यते।)

मदनिका–(मुस्कराते हुए समीप जाकर) सखी काञ्चनमाला, आर्य वसन्तक ने क्या कर दिया, जिसके कारण उसकी इस प्रकार प्रशंसा की जा रही है।

काञ्चनमाला–हला मअणिए, किं तव एदिणा जाणिदेण। तुमं इमं रहस्सं रक्खिदुं ण पारेसि। (हला मदनिके, किं तवैतेन ज्ञातेन। त्वमिदं रहस्यं रक्षितुं न पारयति।)

काञ्चनमाला–सखी मदनिका, तुम्हें इसके जानने से क्या? तू इस रहस्य को गोपनीय नहीं रख सकेगी।

मदनिका–सवामि देवीए चरणेहि जइ कस्सवि पुरदो पआसेभि। (शपे देव्याश्चरणैर्यदि कस्यापि पुरतः प्रकाशयामि।)

मदनिका–मैं महारानी के चरणों की शपथ लेती हूँ जो किसी के भी सामने प्रकट करूँ। अर्थात् किसी के भी सामने नहीं कहूँगी।

काञ्चनमाला–जइ एव्वं ता सुणु। अज्ज क्खु मए राजकुलादो पडिणिवत्तन्तीए चित्तसालिआदुवारे वसन्तअस्स सुसंगदाए समं आलावो सुदो। (यद्येव तच्छृणु। अद्य खलु मया राजकुल त्प्रतिनिवर्तमानया चित्रशालिकाद्वारे वसन्तकस्य सुसङ्गतया सममालापः श्रुतः।)

काञ्चनमाला–यदि ऐसा है तो सुनो। आज मैंने राजकुल से लौटती हुई ने चित्रशाला के द्वार पर सुसङ्गता के साथ वसन्तक की बातचीत सुनी।

मदनिका–(सकौतुकम्) सहि, कीदिसो। (सखि, कीदृशः)

मदनिका–(उत्सुकता से) सखो, कैसी?

काञ्चनमाला–जधा–'सुसंगदे, णहि साअरिअं वज्जिअ पिअवअस्सस्स अण्णं किंपि अस्सत्थदाए कारणम्। ता एत्थ पडिआरं चिन्तेहि' त्ति। (यथा–सुसङ्गते, नहि सागरिकां वर्जयित्वा प्रियवयस्यस्यान्यत्किमप्यस्वस्थाताया: कारणम्। तदत्र प्रतीकारं चिन्तय' इति।)

काञ्चनमाला–यही कि–'सुसङ्गता, क्योंकि सागरिका को छोड़कर प्रिय मित्र की अस्वस्थता का अन्य कुछ भी कारण नहीं है, इसलिये इसका उपाय सोचो।

मदनिका–तदो सुसंगदाए किं भणिदं। (तत: सुसङ्गतया किं भणितम्?)

मदनिका–तब सुसङ्गता ने क्या कहा?

काञ्चनमाला–ताए एव्वं भणिदं–'अज्ज क्खु देवीए चित्तफलअवुत्तन्तसङ्किदाए साअरिअं मम हत्थे समप्पअन्तीए जं णेवत्थं मे पसादीकिदं तेण जेव्व विरइदभट्टिणीवेसं साअरिअं गेण्हिअ अहं पि कञ्चणमालावेसधारिणी भविअ पदोसे इव आगमिस्स। तुमं पि इध एव्व चित्तसालिआदुआरे मं पडिवालइस्ससि। तदो माहवीलदामण्डवे ताए सह भट्टिणो समागमो भविस्सदि' त्ति। (तयैवं भणितम्–'अद्य खलु देव्या चित्रफलकवृत्तान्तशङ्कितया सागरिकां मम हस्ते समर्पयन्त्या यन्नेपथ्यं मे प्रसादीकृतं तेनैव विरचितभर्त्तीवेषां सागरिका गृहीत्वाऽहमपि काञ्चनमालावेषधारिणी भूत्वा प्रदोष इहागमिष्यामि। त्वमपीहैव चित्रशालिकाद्वारे मां प्रतिपालयिष्यसि। ततो माधवीलतामण्डपे तया सह भर्तु: समागमो भविष्यति इति।)

काञ्चनमाला–उसने यह कहा–'आज चित्रपट की घटना से शङ्कित हुई महारानी ने सागरिका को रखवाली के लिये मेरे हाथ में सौंपते हुए जो वस्त्र मुझे प्रसाद में दिये थे, उन्हीं से स्वामिनी का वेष धारण करने वाली होकर रात्ति के प्रथम प्रहर मं यहाँ आऊँगी। तुम भी यहीं चित्रशाला के द्वार पर मेरी प्रतीक्षा करोगे। तब माधवी लता के मण्डप में उसके साथ स्वामी का मिलन हो जाएगा।

मदनिका–(सरोषम्) सुसंगदे, हदासि क्खु तुम जा एव्वं परिअण्णवच्छलं देविं वञ्चेसि। (सुसङ्गते, हतासि खलु त्वं यैवं परिजनवत्सलां देवीं वञ्चयसि।)

मदनिका–(रोषपूर्वक) हे सुसङ्गता, तू बड़ी नीच है, जो सेवकों से स्नेह करने वाली महारानी को इस तरह धोखा देती है।

काञ्चनमाला–हला तुमं दाणिं कहि पत्थिदा। (हला त्वमिदानीं क्व प्रस्थिता।)

काञ्चनमाला–सखी, तू अब कहाँ जा रही है?

मदनिका–अहं खु अस्सत्थसरीरस्स भट्टिणो क़सलवुत्तन्तं जाणिदुं गदा तुमं चिरअसित्ति उत्तम्मन्तीए देवीए तुह सआसं पेसिदम्हि। (अहं खल्वस्वस्थशरीरस्य भर्तु: कुशलवृत्तान्तं ज्ञातुं गता त्वं चिरयसीत्युत्ताम्यन्त्या देव्या तव सकाशं प्रेषितास्मि।)

मदनिका–अस्वस्थ शरीर वाले स्वामी का कुशल-समाचार मालूम करने के लिये गई हुई तू देर कर रही है, इससे व्याकुल हुई देवी ने मुझे तेरे पास भेजा है।

काञ्चनमाला– अदिउजुआ दाणिं सा देवी जा एव्वं पत्तिआअदि। एसो क्खु भट्टा अस्सत्थदामिसेण अत्तणो मअणावत्थं पच्छादअन्तो दन्ततोरणवलहीए चिट्ठदि। ता एहि। एदं वुत्तन्त भट्टिणीए णिवेदेम्ह। (अतिॠजुकेदानीं मा देवी यैवं प्रत्यायते। एषं खलु भर्ताऽस्वास्थ्यमिषेणात्मनो मदनावस्थां प्रच्छादयन्दन्ततोरणवलभ्यां तिष्ठति। तदेहि। एतं वृत्तान्तं भर्त्र्यै निवेदयाव:।)

काञ्चनमाला–महारानी बड़ी सरल है, जो इस तरह विश्वास करती है। यह स्वामी तो अस्वस्थता के ब्याज से अपनी कामदशा को छिपाते हुए हाथी–दांत के द्वार की अटारी में बैठे हैं। तो आओ। इस बात को महारानी से कह देवें।

(इति निष्कान्ते) (दोनों बाहर चली गईं)

इति प्रवेशकः। प्रवेशक समाप्त।

(ततः प्रविशति मदनावस्थां नाटयन्नुपविष्टो राजा)

(तत्पश्चात् कामदशा का अभिनय करता हुआ। बैठा हुआ राजा प्रविष्ट होता है)

राजा–(निःश्वस्य)

राजा–(आहभर कर)

संतापो हृदय स्मरानलकृतः संप्रत्ययं सह्यतां
नास्त्येवोपशमोऽस्य तां प्रति पुनः किं त्वं मुधा ताम्यसि।
यन्मूढेन मया तदा कथमपि प्राप्तो गृहीत्वा चिरं
विन्यस्तस्त्वयि सान्द्रचन्दनरसस्पर्शो न तस्याः करः ॥1॥

हे हृदय, क्योंकि तब (कदली–गृह के समीप सागरिका के मिलन के साथ) किसी तरह भाग्य से प्राप्त हुए, घने चन्दन के रस के समान स्पर्श वाले, उसके सागरिका के हाथ को पकड़कर मुझ मूढ ने बहुत देर तक तेरे ऊपर नहीं रक्खा, इसलिये अब कामाग्नि से उत्पन्न यह संताप सहना ही पड़ेगा। इसकी शान्ति का उपाय है ही नहीं। फिर तू उस सागरिका के लिये वृथा क्यों व्याकुल होता है॥1॥

अहो महदाश्चर्यम्।

मनश्चलं प्रकृत्यैव दुर्लक्ष्यं च तथापि मे।
कामेनैतत्कथं विद्धं समं सर्वैः शिलीमुखैः ॥2॥

अहो! महान् आश्चर्य है!!

मन स्वभाव से ही चञ्चल और दुर्भेद्य है, फिर भी कामदेव ने कैसे मेरा यह मन एक साथ सब बाणों से बाँध दिया॥2॥

टिप्पणी–

दुर्लक्ष्यम्–दुर + लक्ष् + ण्यत् (य)।

इस श्लोक में विभावना अलङ्कार है तथा अनुष्टुप् छन्द का प्रयोग हुआ है।

(ऊर्ध्वमवलोक्य) भोः कुसुमधन्वन्,

(ऊपर देखकर) हे पुष्पों के धनुष वाले,

बाणाः पञ्च मनोभवस्य नियतास्तेषामसंख्यो जनः
प्रायोऽस्मद्विध एव लक्ष्य इति यल्लोके प्रसिद्धिं गतम्।
दृष्टं तत्त्वयि विप्रतीपमधुना यस्मादसंख्यैरयं
विद्धः कामिजनः शरैरशरणो नीतस्त्वया पञ्चताम् ॥3॥

कामदेव के परिमित संख्या वाले पांच ही बाण है और प्रायः हमारे जैसे असंख्य लोग उनके लक्ष्य होते हैं, यह जो लोक में प्रसिद्ध हो गया है, तेरे विषय में अब वह विपरीत देखा जाता है, क्योंकि तू असंख्य बाणों से बाँधे गये हम जैसे शरणहीन कामीजनों को पञ्चत्व (मृत्यु) को प्राप्त करा रहा है॥3॥

टिप्पणी–

यहाँ 'पञ्चत्व' शब्द में श्लेष है। तथा शार्दूलविक्रीडित छन्द है।

(विचिन्त्य) न तथाहमेवंविधावस्थमात्मानमनुचिन्तयामि यथान्तर्गूढकोपसंरम्भाया देव्या लोचनगोचरगतां तामेव तपस्विनीं सागरिकाम्। तथाहि–

ह्रिया सर्वस्यासौ हरति विदितास्मीति वदनं
द्वयोर्दृष्ट्वाऽऽलापं कलयति कथामात्मविषयाम्।
सखीषु स्मेरासु प्रकटयति वैलक्ष्यमधिकं
प्रिया प्रायेणास्ते हृदयनिहितातङ्कविधुरा॥4॥

(सोचकर) मैं अपनी ऐसी अवस्था वाले को इतनी लज्जा के कारण वह सागरिका सबसे अपना मुंह छिपाती है, दो व्यक्तियों के मध्य बातचीत को देखकर उसे अपनी कथा समझने लगती है, सखियों के मुसकराने पर अत्यधिक खिसिया (नाराज) हो जाती है, इस तरह प्रिया सागरिका प्राय: हृदय में बैठे आतङ्क से व्याकुल रहती है॥4॥

टिप्पणी–

इस श्लोक में शिखरिणी छन्द है।

तद्वार्तान्वेषणाय गत: कथं चिरयति वसन्तक:।

उस सागरिका के समाचार जानने के लिये गया हुआ वसन्तक क्यों देर कर रहा है?

(तत: प्रविशति हृष्टो विदूषक:) (तत्पश्चात् प्रसन्न हुआ विदूषक प्रवेश करता है)

विदूषक–(सपरितोषम्) ही हो भो:। कोसम्बीरज्जलाहेणावि ण तादिसो पिअवअस्सस्स परितोसो आसि जादिसो अज्ज मम सआसादो पिअवअणं सुणिअ हविस्सदित्ति तक्केमि। ता जाव गदुअ पिअवअस्सस्स णिवेदइस्सं। (परिक्रम्यावलोक्य च) अधं एसो पिअवअस्सो जधा इमं ज्जेव्व दिसं अवलोअन्तो चिट्ठदि तधा तक्केमि मं ज्जेव्व पडिवालेदि त्ति। ता जाव णं उवसप्पामि। (उपसृत्य) जअदु जअदु पिअवअस्सो। भो वअस्स, दिट्ठिआ बढ्ढसे तुमं समीहिदब्भधिकाए कज्जसिद्धीए। ही ही भो:। कौशाम्बीराज्यलाभेनापि न तादृश प्रियवयस्यस्य परितोष आसीद्यादृशोऽद्य मत्सकाशात् प्रियवचनं श्रुत्वा: भविष्यतीति तर्कयामि। तद्यावद्गत्वा प्रियवयस्यस्य निवेदयिष्ये। कथमेष प्रियवयस्यो यथेमामेव दिशमवलोकयंस्तिष्ठति तथा तर्कयामि मामेव प्रतिपालयतीति। तद्यावदेनमुपसर्पामि। जयतु जयतु प्रियवयस्य:। भो वयस्य दिष्ट्या वर्धसे त्वं समीहिताभ्यधिकया कार्यसिद्ध्या।)

विदूषक–(हर्ष से) आ हा हा! मैं समझता हूँ कि प्रिय मित्र को कौशाम्बी का राज्य प्राप्त करने भी उतना हर्ष नहीं हुआ था जितना कि आज मेरे द्वारा प्रिय वचन को सुनकर होगा। तो अब जाकर प्रिय मित्र से कहता हूँ। (घूमकर और देखकर) क्यों? यह प्रिय मित्र इसी ओर देखते हुए बैठे हैं। ऐसा समझता हूँ कि मेरी ही प्रतीक्षा कर रहे हैं। तो इनके समीप चलूं। (समीप जाकर) जय हो, प्रिय मित्र की जय हो। ऐ मित्र, चाह से भी अधिक कार्य में सफलता के कारण तुम्हें सौभाग्य के लिये बधाई है।

राजा–(सहर्षम्) वयस्य, अपि कुशलं प्रियाया:?

राजा–(हर्ष से) मित्र, क्या प्रिया कुशल तो है?

विदूषक–(सगर्वम्) भो वअस्स अइरेण सअं एव्व पेक्खिअ जाणिस्ससि।

भो वयस्य, अचिरेण स्वयमेव प्रेक्ष्य ज्ञास्यसि।)

विदूषक–(गर्व से) अरे, शीघ्र ही स्वयं देखकर जान लोगे।

राजा–(सपरितोषम्) वयस्य, दर्शनमपि भविष्यति प्रियायाः?

राजा–(सन्तोष से) मित्र, क्या प्रिया का दर्शन भी होगा?

विदूषक–(साहंकारम्) भो, कीस ण भविस्सदि जस्स दे उवहसिदविहप्पदितुद्धिविहवो अहं अमच्चो। (भोः कस्मान्न भविष्यति यस्य त उपहसितबृहस्पतिबुद्धिविभवोऽहममात्यः।)

विदूषक–(अहंकार के साथ) अरे, होगा क्यों नहीं, जिसका मैं, बुद्धि-वैभव से बृहस्पति को तिरस्कृत करने वाला अमात्य हूँ।

राजा–(विहस्य) न खलु चित्रम्। किं न संभाव्यते त्वयि। तत्कथय। विस्तरतः श्रोतुमिच्छामि।

राजा–(हँस कर) इसमें कोई आश्चर्य नहीं। तुम्हारे अन्दर तुम में क्या सम्भव नहीं? विस्तार से सुनना चाहता हूँ।

विदूषक–(कर्णे) एव्वं एव्वं। (एवमेवम्।)

विदूषक–(कान में) इस इस तरह।

राजा–(सहर्षम्) साधु वयस्य, साधु। इदं ते पारितोषिकम्। (इति हस्तादवतार्य कङ्कणं ददाति)।

राजा–(हर्ष से) धन्य मित्र, धन्य। यह तुम्हारा इनाम है। (हाथ से कड़ा उतार कर देता है)।

विदूषकः–(कङ्कणं परिधायात्मानं निर्वर्ण्य) भो इमं दाव सुद्धसुवण्णकड अमण्डिदहत्थं अत्तणो बम्हणीए गदुअ दंसइस्सं। (भो इमं तावच्शुद्धसुवर्णकटकमण्डित-हस्तमात्मनो ब्राह्मण्यै गत्वा दर्शयिष्यामि।)

विदूषक–(कड़ा पहनकर और अपने को देखकर) अरे, शुद्ध सुवर्ण के कड़े से भूषित इस हाथ को अपनी ब्राह्मणी को जाकर दिखलाऊँगा।

राजा–(हस्ते गृहीत्वा निवारयन्) सखे, पश्चाद्दर्शयिष्यसि। ज्ञायतां तावदधुना किमवशिष्टमह्न इति।

राजा–(हाथ पकड़ कर रोकते हुये) मित्र, बाद में दिखलाना, पहले यह पता लगाओ कि दिन कितना शेष है?

विदूषकः–(विलोक्य) भो, पेक्ख पेक्ख। एसो वखु गुरुआणुराओक्खित्तहिअओ संझावहूदिण्णसंकेदो विअ अत्थगिरिसिहरकाणणं अणुसरदि भअवं सहस्सरस्सी। (भोः, प्रेक्षस्व प्रेक्षस्व। एष खलु गुर्वनुरागोत्क्षिप्तहृदयः संध्यावधूदत्तसंकेत इवास्तगिरिशिखरकाननमनुसरति भगवान्सहस्ररश्मिः।)

विदूषक–(देखकर) अरे, देखो, देखो। अत्यधिक अनुराग से विह्वल हृदय वाला यह भगवान् सूर्य, मानो जिसे सन्ध्या रूपी वधू न संकेत दिया है, अस्ताचल के शिखर पर स्थित कानन की ओर जा रहा है।

राजा–(विलोक्य सहर्षम्) सखे, सम्यगुपलक्षितम्। पर्यवसितमहः तथाहि

अध्वानं नैकचक्रः प्रभवति भुवनभ्रान्तिदीर्घं विलंघ्य
प्रातः प्राप्तुं रथो मे पुनरिति मनसि न्यस्तचिन्तातिभारः।
संध्यामृष्टावशिष्टस्वकरपरिकरस्पष्टहेमारपंक्ति -
व्याकृष्यावस्थितोऽस्तक्षितिभृति नयतीवैष दिक्क्रक्रमर्कः ॥5॥

राजा–(देखकर हर्ष से) मित्र, ठीक देखा। दिन समाप्त हो गया। क्योंकि-

एक पहिये वाला मेरा रथ भुवन की परिक्रमा से दीर्घ मार्ग को तय करके फिर प्रातःकाल में उदयगिरि पर न पहुँच सकेगा, इस प्रकार मन में चिन्ता का भारी बोझ लिये अस्ताचल पर स्थित, यह सूर्य संध्या द्वारा नष्ट होने से बची हुई अपनी किरणों के समूह रूपी चमकती हुई सुवर्ण के अरों की पंक्ति वाले दिक्क्रक्र को अपने रथ में लगाने के लिये खींचकर, मानो ले जा रहा है॥5॥

टिप्पणी–

सम्भावनयोत्प्रेक्षा प्रकृतस्य सभेन यत्।

म्रश्नैर्यानां त्रयेण त्रिमुनियतियुता स्रग्धरा कीर्तितेयम्॥

इस श्लोक में उत्प्रेक्षा अलङ्कार है तथा स्रग्धरा छन्द का प्रयोग हुआ है।

अपि च–

यातोऽस्मि पद्मनयने समयो ममैष, सुप्ता मयैव भवती प्रतिबोधनीया।
प्रत्यायनामयमितीव सरोरुहिण्याः सूर्योऽस्तमस्तकनिविष्टकरः करोति॥6॥

अपि च–

अस्ताचल के शिखर पर किरण रखे हुए, यह सूर्य कमलिनी को, मानो, इस प्रकार सान्त्वना दे रहा है–ऐ कमलनयने, मैं अब जा रहा हूँ, यह मेरा जाने का समय है, मैं ही आपको सोती हुई को जगाऊँगा।

टिप्पणी–

इस श्लोक में उत्प्रेक्षा और समासोक्ति अलङ्कार है तथा वसन्ततिलका छन्द का प्रयोग हुआ है।

(दूसरा संकेतित अर्थ)

तदुत्तिष्ठ। माधवीलतामण्डपं गत्वा प्रियतमासंकेतावसरं प्रतिपालयावः।

तो उठो। माधवी लता के मण्डप में जाकर प्रियतमा के संकेत के समय की प्रतीक्षा करें।

(नायिका) के झुके हुए सिर पर हाथ रक्खे, यह नायक कमल धारण करने वाली नायिका को, मानो, इस प्रकार विश्वास दिला रहा है–ऐ कमल सदृश नेत्रों वाली, मैं जा रहा हूँ, यह मेरा वादा है कि सोती हुई आपको मैं ही जगाऊँगा॥6॥

विदूषकः–भो सोभणं भणिदं। (इत्युत्तिष्ठतः)। (भो शोभनं भणितम्।)

विदूषक–अरे! ठीक कहा। (यह कहकर दोनों उठते हैं।)

विदूषकः–(विलोक्य) भो वअस्स, पेक्ख पेक्ख। एसो क्खु बहलीकिद विरलवणराइसण्णिवेसो। गहीदधणपङ्कपीवरवणवराहमहिसकसणच्छवी पसरदि पुव्वदिसं पच्छादअन्तो तिमिरसंघादो। (भो वयस्य, प्रेक्षस्व प्रेक्षस्व। एष खलु वहलीकृतविरलवनराजिसंनिवेशो गृहीतघनपङ्कपीवरवनवराहमहिषकृष्णच्छवि प्रसरति पूर्वदिशं प्रच्छादयंस्तिमिरसंघातः।)

विदूषक–अरे मित्र, देखो, देखो। वृक्षों की पंक्तियों की विरल स्थिति को निबिड कर देने वाला, धनी कीचड़ धारण किये स्थूल जंगली सूअर और भैंसे के समान काली कान्ति वाला, यह अन्धकार-समूह पूर्व दिशा को ढांकता हुआ फैल रहा है।

राजा–(समन्ताद्विलोक्य) सखे, साधु दृष्टम्। तथाहि–

पुरः पूर्वामेव स्थगयति ततोऽन्यामपि दिशं
क्रमात्क्रामन्नद्रिद्रुमपुरविभागांस्तिरयति।
उपेतः पीनत्वं तदनु भुवनस्येक्षणफलं
तमः संघातोऽयं हरति हरकण्ठद्युतिहरः॥7॥

राजा–(चारों ओर देखकर) मित्र, तुमने ठीक देखा। क्योंकि–

यह शिव के कण्ठ की कान्ति को चुराने वाला काला अन्धकार-समूह पहले पूर्व दिशा को ही ढकता है और पीछे अन्य दिशा को भी। फिर क्रमशः आगे बढ़ता हुआ पर्वत, वृक्ष और नगर के विभागों को छिपा

देता है। तत्पश्चात् घनता को प्राप्त हुआ अन्धकार-समूह लोक के नेत्रों के फल को छीन लेता है। अर्थात् देखने की शक्ति को छीन लेता है॥7॥

(तदादेशय मार्गम्। = तो मार्ग बतलाओ।)

विदूषकः–एदु एदु पिअवअस्सो। (एत्वेतु प्रियवयस्यः।)

(परिक्रामतः) (दोनों घूमते हैं।)

विदूषकः–(निरूप्य) भो वअस्स, एदं क्खु समासण्णं संसत्तबहलपत्तपादवलदाहिं पिण्डीकिदन्धआरं विअ मअरन्दुज्जाणम्। ता कधं एत्थ मग्गो लक्खीअदि। (भो वयस्य एतत् खलु समासन्नं संसक्तबहलपत्रपादपलताभिः पिण्डीकृतान्धकारमिव मकरन्दोद्यानम्। तत्कथमत्र मार्गो लक्ष्यते।)

विदूषक–(देखकर) हे मित्र, यह मकरन्द नामक उद्यान आ गया, जिसमें सटे हुए घने पत्तों वाले वृक्षों और लताओं ने, मानो अन्धकार को इकट्ठा कर दिया है। तो इसमें मार्ग कैसे दिखेगा?

राजा–(गन्धामाघ्राय) वयस्य गच्छाग्रतः। ननु सुपरिज्ञात एवात्र मार्गः। तथाहि

राजा–(गन्ध सूँघ कर) मित्र, आगे चलो। यहाँ मार्ग तो भली-भाँति परिचित ह। क्योंकि-

पालीयं चम्पकानां नियतमयमसौ सुन्दरः सिन्दुवारः
सान्द्रा वीथी तथेयं बकुलविटपिनां पाटलापङ्क्तिरेषा।
आघ्रायाघ्राय गन्धं विविधमधिगतैः पादपैरेवमस्मि-
न्व्यक्ति पन्थाः प्रयाति द्विगुणतरतमोनिह्न तोऽप्येष चिह्नैः॥8॥

निश्चय ही यह चम्पक वृक्षों की श्रेणी है, यह वह सुन्दर सिन्धुवार वृक्ष है, यह मौलसिरी के वृक्षों की घनी पंक्ति है और यह घटना (गुलाब) नाम के पौधों की कतार है। इस प्रकार इस मकरन्द उद्यान में दुगुने अन्धकार से छिपा हुआ भी यह मार्ग अनेक प्रकार की गन्ध सूँघ-सूँघ कर पहचाने गये वृक्षों के चिह्नों से प्रकट हो रहा है॥8॥

(इति परिक्रामतः = दोनों घूमते हैं)

विदूषकः–भो, एवं क्खु णिपडन्तमत्तमहुअरं कुसुमामोदवासिददसदिसं मसिणमरअदमणिसिला-कुट्टिमसुहाअन्तचरणसंचारसूइदं तं ज्जेव्व माहवीलदामण्डवं संपत्तम्ह। ता इध ज्जेव्व चिट्ठदु भवं जाव अहं देवीवेसधारिणि साअरिअं गेण्हिअ लहुं आअच्छामि। (भोः, एतं खलु निपतन्मत्तमधुकरं कुसुमामोदवासितपदसिदशं मसृणमरकतमणिशिलाकुट्टिमसुखायमानचरणसंचारसूचितं तमेव माधवीलतामण्डपं संप्राप्तौ स्वः। तदिहैव तिष्ठतु भवान्यावदहं देवीवेषधारिणीं सागरिकां गृहीत्वा लघ्वागच्छामि।)

विदूषक–लो, हम इस उसी माधवी लता के मण्डप पर पहुँच गये, जिसमें मधु से मत्त भ्रमर गिर रहे हैं, जिसमें दसों दिशायें पुष्पों की सुगन्धि से सुगन्धित हो रही हैं और जो चिकनी मरकत मणियों की शिलाओं के फर्श पर सुख अनुभव करते हुए चरणों के संचरण से सूचित है। तब आप यहीं ठहरें, जब तक मैं महारानी का वेष धारण करने वाली सागरिका को लेकर शीघ्र आता हूँ।

राजा–वयस्य, तेन हि त्वर्यतां त्वर्यताम्।

राजा–मित्र, तो शीघ्रता कीजिये, शीघ्रता कीजिए।

विदूषकः–भो, मा उत्तम्म। एसो आअदोम्हि। (इति निष्क्रान्तः)। (भोः, मोत्ताम्य। एष आगतोऽस्मि।)

विदूषक–अरे व्याकुल न हो। मैं यह आया। (बाहर चला जाता है।)

राजा–यावदहमप्यस्यां मरकतशिलावेदिकायामुपविश्य प्रियाया: संकेतसमयं प्रतिपालयामि। (उपविश्य सचिन्तम्) अहो कोऽपि कामिजनस्य स्वीगृहिणीसमागमपरिभाविनोऽभिनवजनं प्रति पक्षपात:। तथाहि–

प्रणयविशदां दृष्टिं वक्त्रे ददाति न शङ्किता
घटयति घनं कण्णश्लेषे रसान्न पयोधरौ।
वदति बहुशो गच्छामीति प्रयत्नधृताप्यहो
रमयतितरां संकेतस्था तथापि हि कामिनी ॥9 ॥

राजा – तब तक मैं इसी मरकतमणि की शिलाओं की बनी वेदिका चबूतरी पर बैठकर प्रिया के संकेत के समय की प्रतीक्षा करूँ। (बैठकर चिन्तापूर्वक) अहो, अपनी पत्नी के मिलन की उपेक्षा करने वाले कामुक लोगों का नये व्यक्ति के प्रति अद्‌भुत झुकाव होता है। क्योंकि–

संकेत स्थान में स्थित कामिनी भयभीत होने के कारण स्नेह से विकसित दृष्टि (नायक के) मुख पर नहीं डालती, कण्ठ के आलिङ्गन में प्रीति से स्तनों को दृढता से नहीं लगाती और प्रयत्नपूर्वक (अङ्ग में) धारण की गई भी बार-बार 'मैं जाती हूँ' यह कहती है। फिर भी, यह आश्चर्य है कि वह अधिक आनन्दित करती है ॥9 ॥

अये, कथं चिरयति वसन्तक:। तत्किं नु खलु विदित: स्यादयं वृत्तान्तो देव्या।

अरे, विदूषक कैसे ढेर लगा रहा है? तो क्या कहीं यह बात महारानी ले जान तो नहीं ली।

(तत: प्रविशति वासवदत्ता काञ्चनमाला च)

(तत्पश्चात् वासवदत्ता और काञ्चनमाला प्रवेश करती है)

वासवदत्ता–हञ्जे कञ्चनमाले, सव्वं ज्जेव्व मम वेसं कुटुअ साअरिआ अज्जउत्तं अहिसरिस्सदि। (हञ्जे काञ्चनमाले, सत्यमेव मम वेशं कृत्वा सागरिकाऽऽर्यपुत्रमभिस-रिष्यति।)

वासवदत्ता–अरी काञ्चनमाला, सचमुच ही मेरा वेष बनाकर सागरिका आर्यपुत्र के पास जायेगी।

काञ्चनमाल–कधं अण्णधा भट्टिणीए णिवेदीअदि। अधवा चित्तसालिआदुवारे ट्ठिदो वसन्तओ ज्जेव्व दे पच्चअं उप्पादइस्सदि। (कथमन्यथा भर्त्र्यै निवेद्यते। अथवा चित्रशालिकाद्वारे स्थितो वसन्तक एव ते प्रत्ययमुत्पादयिष्यति।)

काञ्चनमाला–स्वामिनी असत्य निवेदन कैसे किया जा सकता है? या चित्रशाला के द्वार पर स्थित विदूषक ही आपको विश्वास करा देगा।

वासवदत्ता–तेण हि तहिं ज्जेव्व गच्छम्ह। (तेन हि तत्रैव गच्छाव:।)

वासवदत्ता–तो वहीं चलें।

काञ्चनमाला–एदु एदु भट्टिणी। (एत्वेतु भर्त्री।)

काञ्चनमाला–चलिये, स्वामिनी चलिये।

(इति परिक्रामत: = दोनों घूमती हैं)

(तत: प्रविशति कृतावगुण्ठनो विदूषक: = तब मुख लपेटे विदूषक प्रवेश करता है)

विदूषक–(कर्ण दत्वा) जधा चित्तसालिआदुवारे पदसद्दो सुणीअदि तधा तक्केमि आअदा साअरिआत्ति। (यथा चित्रशालिकाद्वारे पदशब्द: श्रूयते तथा तर्कयाम्यागता सागरिकेति।)

विदूषक–(कान लगाकर) क्योंकि चित्रशाला के द्वार पर पैरों का शब्द सुनाई पड़ रहा है, इससे मैं समझता हूँ कि सागरिका आ गई है।

काञ्चनमाला–भट्टिणी, इअं सा चित्तसालिआ। ता जाव वसन्तअस्स सण्णं करेमि। (इति छोटिकां ददाति)। (भर्ति, इयं सा चित्रशालिका तद्यावद्वसन्तकस्य संज्ञा करोमि।)

काञ्चनमाला–स्वामिनी, यह वह चित्रशाला है। तब अब विदूषक को इशारा करती हूँ। (चुटकी बजाती है)।

विदूषकः–(सहर्षमुपसृत्य सस्मितम्) सुसंगदे, सुट्ठु क्खु किदो कञ्चणमालाए वेसो। अध साअरिआ दाणिं कहिं। (सुसङ्गते, सुष्ठु खलु त्वया कृतः काञ्चनमालाया वेषः अथ। अथ सागरिकेदानीं क्व।)

विदूषक–(हर्ष के साथ समीप जाकर मुस्कराते हुये) सुसङ्गता, तूने तो यह काञ्चनमाला का वेष खूब बनाया। पर अब सागरिका कहाँ है?

काञ्चनमाला–(अङ्गुल्या दर्शयन्ती) णं एसा। (नन्वेषा।)

काञ्चनमाला–(अंगुली से दिखलाते हुये) यह है।

विदूषकः–(दृष्ट्वा सविस्मयम्) एसा फुडं ज्जेव्व देवी वासवदत्ता। (एषा स्फुटमेव देवी वासवदत्ता।)

विदूषक–(देखकर विस्मय से) यह तो बिल्कुल महारानी वासवदत्ता है।

वासवदत्ता–(साशङ्कमात्मगतम्) कहं जाणिदम्हि। (कथं ज्ञाताऽस्मि।)

वासवदत्ता–(आशङ्का से, स्वगत) में कैसे पहचान ली?

विदूषकः–(छोटिका ददाति) भोदि साअरिए, इदो आअच्छ। (भवति सागरिक, इत आगच्छ।)

विदूषक–(चुटकी बजाता है) माननीय सागरिका, इधर चलिये।

(वासवदत्ता विहस्य काञ्चनमालामवलोकयति = वासवदत्ता हँसकर काञ्चनमाला को देखती है)

काञ्चनमाला–(अपवार्याङ्गुल्या तर्जयन्ती) हदास, सुमरिस्ससि एदं अत्तणो वअणं। (हताश, स्मरिष्यसीदमात्मनो वचनम्।)

काञ्चनमाला–(एक ओर को अंगुलि से डाँटते हुए) दुष्ट अपने इस वचन को याद करेगा।

विदूषक–तुदरदु तुवरदु साअरिआ। एसो क्खु पुव्वदिसादो उग्गच्छदि भअवं मिअलञ्छणो। (त्वरतां त्वरतां सागरिका। एष खलु पूर्वदिशात उद्गच्छति भगवान्मृगलाञ्छनः।)

विदूषक–सागरिका जल्दी करो, जल्दी करो। यह पूर्व दिशा में भगवान शशाङ्क चन्द्रमा ऊपर उठ रहा है।

(सर्वे परिक्रामन्ति = सब घूमते हैं)

राजा–(सोत्कण्ठमात्मगतम्) अये उपस्थितप्रियासमागमस्यापि किमिदमत्यर्थमुत्ताम्यति मे मनः। अथ वा–

राजा–(व्याकुलता से आत्मगत) अरे, क्यों यह मेरा मन, जिसका प्रिया से मिलन सन्निकट है, अत्यधिक व्याकुल हो रहा है? अथवा–

तीव्रः स्मरसंतापो न तथादौ बाधते यथाऽऽसन्ने।
तपति प्रावृषि नितरामभ्यर्णजलागमो दिवसः ॥10॥

उत्कट काम-जनित सन्ताप प्रारम्भ में उतना नहीं सताता, जितना प्रिया के मिलन के सन्निकट होने पर सताता है। वर्षा-ॠतु में वह दिन, जिसमें वर्षा सन्निकट होती है, अधिक तपता है॥10॥

विदूषक–(कर्ण दत्त्वा) शोद साअरिए, एसो क्खु पिअवअस्सो तुमं ज्जेव्व उद्दिसिअ उक्कण्ठाणिब्भरं मन्तेदि। ता णिवेदेमि से तुह आगमणं। (भवति सागरिके, एष खलु प्रियवयस्यस्त्वामेवोद्दिश्योत्कण्ठानिर्भरं मन्त्रते। तन्निवेदयाम्यस्मै तवागमनम्)

विदूषक—(कान लगाकर) श्रीमती सागरिका, यह प्रिय तुझे ही लक्ष्य करके अत्यधिक उत्कण्ठापूर्वक कह रहा है। इसलिये इससे तेरे आगमन का निवेदन करता है।

(वासवदत्ता शिरः संज्ञां ददाति)

विदूषकः—(राजानमुपसृत्य) भो वअस्स, दिट्ठिआ वड्ढसे। एसा क्खु मए आणीदा साअरिआ। (भो वयस्य, दिष्ट्या वर्धसे। एषा खलु मयाऽऽनीता सागरिका।)

विदूषक—(राजा के समीप जाकर) हे मित्र, तुम बड़े सौभाग्यशाली हो। लो, मैं इस सागरिका को ले आया हूँ।

राजा—(सहर्ष सहसोत्थाय) वयस्य, क्वासौ क्वासौ।

राजा—(हर्ष के साथ उठकर) मित्र, वह कहाँ है? कहाँ है?

विदूषक—(सभ्रूभङ्गम्) णं एसा। (नन्वेषा।)

विदूषक—(सैन चलाकर) यह तो रही।

राजा—(उपसृत्य) प्रिये सागरिके,

शीतांशुर्मुखलुत्पले तव दृशौ पद्मानुकारौ करौ
रम्भागर्भनिभं तथोरुथुगलं बाहू मृणालोपमो।
इत्याह्लादकराखिलाङ्गि रभसान्निः शङ्कमालिङ्ग्य
मामङ्गानि त्वमनङ्गतापविधुराण्येह्येहि निर्वापय ॥11॥

राजा—प्रिय सागरिका,

तेरा मुख चन्द्रमा है, आँखें नील-कमल हैं, हाथ कमल-सदृश हैं, ऊरु-युगल कदली के मध्य भाग के समान है और भुजायें कमल-नाल के तुल्य हैं, इस प्रकार, हे आनन्दित करने वाले सब अङ्गों वाली, तू आ और निशङ्क होकर जलपूर्वक मेरा आलिङ्गन करके काम के ताप से वयकुल मेरे अङ्गों को शान्त कर दे ॥11॥

टिप्पणी—

निर्वापय—निर + वा + णिच्।

इस श्लोक में 'शीतांशुर्मुखम्' और 'उत्पले दृशौ' में रूपक अलङ्कार तथा शार्दूलविक्रीडित छन्द का प्रयोग हुआ है।

वासवदत्ता—(सवाष्पमपवार्य) कञ्चनमाले, एव्वं पि मन्तिअ अज्जउत्तो पुणो वि मं आलविस्सदित्ति अहो अच्चरिअं। (काञ्चनमाले, एवमपि मन्त्रयित्वाऽऽर्यपुत्रः पुनरपि मामालपिष्यतीत्यहो आश्चर्यम्।)

वासवदत्ता—(आँसू भरकर, एक ओर को) काञ्चनमाला, इस प्रकार कहकर आर्यपुत्र फिर मुझ से बातें करेंगे, यह आश्चर्य है।

काञ्चनमाला—(अपवार्य) भट्टिणि, एव्वं णेदं। किं उण साहसिआणं पुरिसाणं ण संभावीअदि। (भर्त्रि, एवं न्विदम्। किं पुनः साहसिकानां पुरुषाणां न संभाव्यते।)

काञ्चनमाला—(एक ओर को) स्वामिनी, ऐसा ही है। साहसिक पुरुषों से भला क्या सम्भव नहीं है।

विदूषक—भोदि साअरिए, वीसद्धा भविअ पिअवअस्सं आलवेहि। अज्ज वि दाव से णिच्चरुट्ठाए देवीए वासवदत्ताए दुट्ठवअणेहिं कडुइवा कण्णा संपदं सुहावेदु तुए महुरवअणोवण्णासो। (भवति सागरिके,

विश्रब्धा भूत्वा प्रियवयस्यमाप। अद्यापि तावदस्य नित्यरुष्टाया देव्या वासवदत्ताया दुष्टवचनैः कटुकितौ कणौ साम्प्रतं सुखयतु तव मधुरवचनोपन्यासः।)

विदूषक–माननीय सागरिका, निडर होकर प्रिय मित्र से बातें करो। अब तक हमेशा रुष्ट रहने वाली महारानी वासवदत्ता की कटूक्तियों से कडुवाये हुए इसके कानों को अब अपने मीठे वचनों के प्रसङ्ग से सुखी करो।

वासवदत्ता–(अपवार्य सरोषस्मितम्) हञ्जे कञ्चणमाले, अहं ईदिसी कडुभाषिणी। अज्जवसन्तओ उण पिअंवदो। (हञ्जे काञ्चनमाले, अहमीदृशी कटुभाषिणी। आर्यवसन्तकः पुनः प्रियंवदः।)

वासवदत्ता–(एक ओर को मुड़कर, रोष और मुस्कराहट के साथ) काञ्चनमाला, मैं ऐसी कटु-भाषिणी हूँ, लेकिन आर्य वसन्तक को प्रियभाषी है।

काञ्चनमाला–(अपवार्य) हदास, सुमरिस्ससि एदं वअणं। (हताश, स्मरिष्यस्येतद् वचनम्।)

काञ्चनमाला–(एक ओर को) दुष्ट, इस बात को याद करेगा।

विदूषक–(विलोक्य) भो वअस्स, पेक्ख पेक्ख। एसो क्खु कुविदकामिणीकवोलसण्णिहो पुव्वदिसं पआसअन्तो उदिदो भअवं मिअलञ्छणो। (भो वयस्य, प्रेक्षस्व प्रेक्षस्व। एष खलु कुपितकामिनीकपोलसंनिभः पूर्वदिशं प्रकाशयन्नुदितो भगवान्मृगलाञ्छनः।)

विदूषक–(देखकर) हे मित्र देखो, देखो। यह रुष्ट सुन्दरी के कपोल जैसा भगवान् शशाङ्क पूर्व दिशा को प्रकाशित करता हुआ उदित हो रहा है।

राजा–प्रिय सागरिके, पश्य–

राजा–प्रिय सागरिके, देखो–

आरुह्य शैलशिखरं त्वद्दनापहृतकान्तिसर्वस्वः।
प्रतिकर्तुमिवोर्ध्वकरः स्थितः पुरस्तान्निशानाथः॥12॥

तुम्हारे मुख द्वारा हर ली गई सम्पूर्ण कान्ति वाला निशापति पर्वत की चोटी पर चढ़कर ऊपर किरण फैलाये, मानो बदला लेने के लिये सामने पूर्व दिशा में स्थित है॥12॥

टिप्पणी–

इस श्लोक में श्लेषानुप्राणित उत्प्रेक्षा, रूपक और समासोक्ति अलङ्कार तथा आर्या छन्द आया है।

अपि च, दर्शितमनेनोद्गच्छता जडत्वम्। कुतः

किं पद्मस्य रुचं न हन्ति नयनानन्दं विधत्ते न किं
वृद्धिं वा झषकेतनस्य कुरुते नालोकमात्रेण किम्।
वक्त्रेन्दौ तव सत्ययं यदपरः शीतांशुरभ्युद्गतो
दर्पः स्यादमृतेन चेदिह तदप्येवास्ति किम्बाधरे॥13॥

और भी, उदित होते हुए इसने दिखला दी न अपनी मूर्खता! क्योंकि तेरा मुख क्या कमलों की कान्ति को नष्ट नहीं कर देता है? क्या वह नेत्रों को आनन्द नहीं देता है? क्या देखने मात्र से वह मकरकेतन (काम) की वृद्धि नहीं करता है? तेरे मुख रूपी चन्द्रमा के रहते हुए भी जो यह दूसरा हिमांशु (चन्द्र) सामने उदित हुआ है तो कदाचित् इसे अमृत का अभिमान हो, लेकर वह अमृत भी तुम्हारे इस बिम्ब सदृश अधर में है ही॥13॥

टिप्पणी–

इस श्लोक में प्रतीत अलङ्कार है तथा शार्दूलविक्रीडित छन्द है।

वासवदत्ता–(सरोषमवगुण्ठनमपनीय) अज्जउत्त, सच्चं एव्व अहं साअरिआ तुमं उण साअरिओखित्तहिअओ सव्वं एव्व साअरिआमअं पेक्खसि। (आर्यपुत्र सत्यमेवाहं सागरिका। त्वं पुनः सागरिकोत्क्षिप्तहृदयः। सर्वमेव सागरिकामयं प्रेक्षसे।)

वासवदत्ता–(क्रोधपूर्वक परदा हटाकर) आर्यपुत्र, मैं सच ही सागरिका हूँ! सागरिका के लिये बौराये हुए हृदय वाले तुम तो सबको सागरिकामय ही देखते हो।

राजा–(दृष्ट्वा सवैलक्ष्यमपवार्य) कथं देवी वासवदत्ता। वयस्य, किमेतत्

राजा–(देखकर, लज्जा के साथ, एक ओर को) अरे! महारानी वासवदत्ता कैसे? मित्र, यह क्या?

विदूषक–(सविषादम्) भो वअस्स, किं अवरं। अम्हाणं जीविदसंसओ जादो एहो। (भो वस्सस्य, किमपरम्। अस्माकं जीवितसंशयो जात एषः।)

विदूषक–(विषाद से) अरे मित्र, और क्या है। यह हमारे प्राणों को संशय उत्पन्न हो गया है।

राजा–(उपविश्याञ्जलिं बद्ध्वा) प्रिये वासवदत्ते, प्रसीद प्रसीद।

राजा–(बैठकर, हाथ जोड़कर) प्रिय वासवदत्ता, प्रसन्न हो जाओ, प्रसन्न हो जाओ।

वासवदत्ते–(तदभिमुखं हस्तौ प्रसार्याश्रूणि विधारयन्ती) अज्जउत्त, मा एव्वं भण। अण्णागदाइं एदाइं अक्खराइं। (आर्यपुत्र, मैवं भग्ग। अन्यगतान्येतान्यक्षराणि।)

वासवदत्ता–(उसके सामने दोनों हाथ पसार कर आँसू भरे हुये) आर्यपुत्र, ऐसा न कहो। यह शब्द अन्य को लक्षित कर रहे।

विदूषकः–(आत्मगतम्) किं दाणिं एत्थ करिस्सं। भोदु। एव्वं दाव। (प्रकाशम्) भोदि, महाणुभावा क्खु तुमं। तो क्खमीअदु दाव एके अवराहो पिअवअस्सस्स। (किमिदानीमत्र करिष्यामि। भवतु। एवं तावत्। भवति, महानुभावा खलु त्वम्। तत्क्षम्यतां तावदेकोऽपराधः प्रियवयस्यस्य।)

विदूषक–(स्वगत) अब इस स्थिति में क्या करूं? अच्छा, ऐसा करूं। (प्रकट में) माननीय, आप तो बड़ी उदार हैं। प्रिय मित्र का एक अपराध तो क्षमा कर ही दें।

वासवदत्ते–अज्ज वसन्तअ णं पढमसंगमे विग्धं करन्तीए मए ज्जव्व एदस्स अवरद्धं। (आर्य वसन्तकः, ननु प्रयमसंगमे विघ्नं कुर्वन्त्या मयैवैतस्यापराद्धम्।)

वासवदत्ते–आर्य वसन्तक, प्रथम मिलन में विघ्न करते हुए मैंने ही इनका अपराध किया है।

राजा–देवि, एवं प्रत्यक्षदृष्टव्यलीकः किं ब्रवीमि। तथापि विज्ञापयामि। (पादयोः पतति)।

आताम्रतामपनयामि विलक्ष एष
लाक्षाकृतां चरणयोस्तव देवि मूर्ध्ना।
कोपोपरागजनितां तु मुखेन्दुबिम्बे
हेर्तु क्षमो यदि परं करुणा मयि स्याम्॥14॥

राजा–देवि, इस प्रकार प्रत्यक्ष देखे गये दोष वाला मैं क्या कहूँ? फिर भी प्रार्थना करता हूँ। (पैरों में पड़ता है।)

देवी, यह लज्जित हुआ मैं अपने सिर से तुम्हारे चरणों की महावर की लाली को पोंछता हूँ। तुम्हारे मुख रूपी चन्द्र-बिम्ब पर क्रोध रूपी राहु के ग्रहण से उत्पन्न लाली को तो तभी दूर कर सकता हूँ, यदि मुझ पर आपकी केवल दया हो जाये॥14॥

वासवदत्ते–(हस्तेन वारयन्ती) अज्जउत, उठ्ठेहि उट्ठहि। णिल्लज्जो क्खु सो अणो जो अज्जउत्तस्स ईदिसं हिअअं जाणिअ पुणो वि कुप्पदि। ता सुहं चिट्ठदु अज्जउत्तो। अहं गमिस्सं। (इति गन्तुमिच्छति)। (आर्यपुत्र उत्तिष्ठोत्तिष्ठ। निर्लज्जः खलु स जनो य आर्यपुत्रस्येदृशं हृदय ज्ञात्वा पुनरपि।

सागरिकेति–सागरिकाणां प्राचुर्यमत्रेति सागरिकामयम्। प्रत्यक्षेति–प्रत्यक्ष दृष्टं व्यलीकमपराधो यस्य सः।

(कुप्यति। तत्सुखं तिष्ठत्वार्यपुत्रः। अहं गमिष्यामिः।)

वासवदत्ते–(हाथ से रोकती हुई) आर्यपुत्र, उठो, उठो। निर्लज्ज तो वह है जो, आर्यपुत्र के ऐसे हृदय को जानकर फिर भी कोप करता है। आर्यपुत्र सुखपूर्वक रहें। मैं जा रही हूँ। (यह कहकर जाना चाहती है)

काञ्चनमाला–भट्टिणि, करेहि पसादं। एवंचरणपडिदं महाराअं उज्झिअ गदाए देवीए पच्छादार्देण होदव्वं। (भर्त्रि, कुरु प्रसादम्। एवं चरणपतितं महाराजमुज्झित्वा गताया देव्याः पश्चात्तापेन भवितव्यम्।)

काञ्चनमाला–स्वामिनी, कृपा कर दो। इस प्रकार चरणों मं पड़े हुए महाराज को छोड़कर गई हुई देवी को अवश्य पश्चात्ताप होगा।

वासवदत्ते–अवेहि, अपण्डिदे, कुदो एत्थ पसादस्स पच्छादावस्स वा कारणं। ता एहि। गच्छम्ह। (इति निष्क्रान्ते)। (अपेहि, अपण्डिते, कुतोऽत्र प्रसादस्य पश्चात्तापस्य वा कारणम्। तदेहि। गच्छावः।)

वासवदत्ते–हट, मूर्ख! इसमें कृपा अथवा पश्चात्ताप का कारण कहाँ से आया? इसलिये आ, चलें।

राजा–देवि, प्रसीद प्रसीद। (आताम्रतामपनयामीति 3/14 पुनः पठति।)

राजा–देवी, प्रसन्न हो जाओ, प्रसन्न हो जाओ। ('आताम्रतामपनयामि...' इत्यादि श्लोक 3/14 का पुनः पाठ करता है)।

विदूषकः–भो, उट्ठेहि। गदा देवी। ता कीस एत्थ अरण्णरुदिदं करेसि। (भोः, उत्तिष्ठ। गता देवी। तत्कस्मादत्रारण्यरुदितं करोषि।)

विदूषक–अरे, उठो। देवी गई। तब क्यों यहाँ अरण्य-रोदन कर रहे हो?

राजा–(मुखमुन्नमय्य दृष्ट्वा) कथमकृत्वैव प्रसादं गता देवी।

राजा–(मुख उठाकर, देखकर) कैसे बिना कृपा किये ही देवी चली गई।

विदूषकः–कहं ण किदो पसादो जं अज्ज वि अक्खदसरीरा चिट्ठम्ह। (कथं नः कृतः प्रसादो यदद्याप्यक्षतशरीरौ तिष्ठावः।)

विदूषक–कृपा कैसे नहीं की है–अभी तक दोनों अक्षत शरीर वाले तो बैठे हैं।

राजा–धिङ् मूर्ख, किमेवमुपहसति माम्। ननु त्वत्कृत एवायमापतितोऽस्माकं महानर्थः। कुतः–

समारूढा प्रीतिः प्रणयबहुमानादनुदिनं
व्यलीकं वीक्ष्येदं कृतमकृतपूर्वं खलु मया।
प्रिया मुञ्चत्यद्य स्फुटमसहना जीवितमसौ
प्रकृष्टस्य प्रेम्णः स्खलितमविषह्यं हि भवति॥15॥

राजा–छिः मूर्ख, क्यों इस तरह मेरा उपहास कर रहा है? तरे द्वारा किया गया ही तो हम पर यह अनर्थ आ पड़ा है। क्योंकि–

प्रेम के अत्यादर के कारण हमारी प्रीति दिन प्रतिदिन बढ़ रही थी। पहले न किये गये इस अपराध को मेरे द्वारा किया गया देखकर न सहन करने वाली वह प्रिया (वासवदत्ता) आज निःसन्देह प्राण त्याग देगी, क्योंकि उत्कट प्रेम का स्खलन असह्य होता है॥15॥

टिप्पणी–

अनुदिनम्–दिनम् दिनम्–अव्ययीभाव समास।

असहना–न + सह् + ल्यु (कर्त्र्यर्थे)

इस श्लोक में अर्थान्तरन्यास नामक अलङ्कार तथा शिखरिणी छन्द का प्रयोग हुआ है।

विदूषकः–भो, रुट्ठा देवी किं करिस्सदित्ति ण जाणामि। साअरिआ उण दुक्करं जीविस्सदि त्ति तक्केमि। (भोः रुष्टा देवी किं करिष्यतीति न जानामिः सागरिका पुनर्दुष्करं जीविष्यतीति तर्कयामि।)

विदूषक–अरे, रुष्ट देवी क्या करेगी, यह तो मैं नहीं जानता। लेकिन सागरिका का जीना दुभर हो जायेगा, मैं ऐसा सोचता हूँ।

राजा–वयस्य, अहमप्येवं चिन्तयामि। हा प्रिये सागरिके।

राजा–मित्र, मैं भी ऐसा ही सोचता हूँ। हाय! प्रिय सागरिका।

(ततः प्रविशति वासवदत्तावेषधारिणी सागरिका)

(तब वासवदत्ता का वेष धारण किये सागरिका प्रवेश करती है)

सागरिका–(सोद्वेगम्) दिट्ठिआ णाहं इमिणा विरइदेण देवीवेसेण इमादो चित्तसालादो णिक्क मन्ती केणावि लक्खिदम्हि। ता दाणिं किं करिस्सं। (इति सास्त्रं चिन्तयति)। (दिष्ट्या नाहमनेन विरचितेन देवीवेषेणास्याः चित्रशालाया निष्क्रामन्ती केनापि लक्षितास्मि। तदिदानीं किं करिष्यामि।)

सागरिका–(घबराई हुई) सौभाग्य से इस बनाये गये देवी के वेष में चित्रशाला स निकलते हुए मुझे किसी ने नहीं देखा। तब अब क्या करूँगी। (आँसू बहाती हुई सोचती है)।

विदूषकः–भो, किं मूढो विअ चिट्ठसि। चिन्तेहि एत्थ पडिआरं। (भोः, किं मूढ इव, तिष्ठसि। चिन्यात्र प्रतीकारम्।)

विदूषक–अरेः क्यों मूढ से बैठे हो। इसका उपाय सोचो।

राजा–तदेव चिन्तयामि। वयस्य, देवीप्रसादं मुक्त्वा नान्यमत्रोपायं पश्यामि। तदेहि। तत्रैव गच्छावः।

राजा–वही तो सोच रहा हूँ। मित्र, मैं देवी को प्रसन्न करने के अलावा इसका अन्य कोई उपाय नहीं देखता। तो आओ। वहीं चलें।

(इति परिक्रामतः = दोनों घूमते हैं)

सागरिका–(विमृश्य) वरं दाणिं सअं जेव्व अत्ताणअं उब्बन्धिअ उवरदा ण उण जाणिदसंकेदवुत्तन्तए देवीए परिभूदम्हि। ता जाव अहं असोअपादवं गदुअ जधासमीहिदं करिस्सं। (इति परिक्रामति)। (वरमिदानीं स्वयमेवात्मानमुद्बध्योपरता न पुनर्ज्ञातसंकेतवृत्तान्तया देव्या परिभूताऽस्मि। तद्यावदहमशोकपादपं गत्वा यथासमीहितं करिष्यामि।)

सागरिका–(देखकर) अब स्वयं अपने को लटका कर मरी भली हूँ, न कि संकेत की घटना को जानने वाली महारानी से अपमानित की गई। तो अब अशोक-वृक्ष के समीप जाकर यथाभिलषित करूँ। (घूमती है)

विदूषकः–(आकर्ण्य) चिट्ठ दाव। चिट्ठ भो। पदसद्दो सुणीअदि। जाणामि कदावि गहिदपच्छादावा पुणो वि देवी आअदा भवे। (तिष्ठ तावत् तिष्ठ भोः। पदशब्दः श्रूयते। जानामि कदापि गृहीतपश्चात्तापः पुनरपि देव्यागता भवेत।)

विदूषक—ठहरो तो, अरे ठहरो। पैरों का शब्द सुनाई पड़ रहा है। मैं समझता हूँ कि पश्चात्ताप करके फिर महारानी आ रही होंगी।

राजा—वयस्य, महानुभावा खलु देवी। कदाचिदेवमपि स्यात्। तत्त्वरितं निरूप्यताम्।

राजा—मित्र, देवी बड़ी उदार है। शायद ऐसा हो। तब जल्दी से देखो।

विदूषकः—जं भवं आणवेदि। (इति परिक्रामति)। (यद्भवानाज्ञापयति।)

विदूषक—जैसी आप आज्ञा दें।(घूमता है)

सागरिका—(उपसृत्य) ता जाव इमाए माहवीलदाए पासं विरइअ असोअपादवे अप्पाणअं उब्बन्धिअ वावादेमि। (इति लतापाशं रचयन्ती) हा ताव। हा अम्व॥ एसा दाणिं अहं अणाधा असरणा विवज्जामि मन्दभाइणी। (इति कण्ठे लतापाशमर्पयति)। (तद्यावदेतया माधवीलतया पाशं विरच्याशोकपादप आत्मानमुद्बध्य व्यापादयामि। हा तात। हा अम्ब। एषेदानीमहमनाथाऽशरणा विपद्ये मन्दभ्रागिनी।)

सागरिका—(समीप जाकर) तो अब इस माधवी लता का फंदा बनाकर अशोक-वृक्ष पर अपने को लटका कर आत्मघात करती हूँ। (लता का फंदा बनाती हुई) हाय तात, हाय अम्मा, यह अभागी मैं अब अनाथ और शरणहीन होकर मर रही हं्। (गले में लता का फंदा डालती है)।

विदूषकः—(विलोक्य) का उण एसा। कधं देवी वासवदत्ता। (ससंभ्रममुच्चैः)भो वअस्सं, केरित्ताहि परित्ताहि। एसा क्खु देवी वासवदत्ता अप्पाणअं उव्वन्धिअ वावादेदि। (का पुनरेषा। कथं देवी वासवदत्ता। भो वयस्य, परित्रायस्व परित्रायस्व। एषा खलु देवी वासवदत्ताऽऽत्मानमुद्बध्य व्यापादयति।)

विदूषक—(देखकर) यह है कौन! क्या देवी वासवदत्ता? (घबराकर जोर से) अरे मित्र, बचाओ, बचाओ। यह देवी वासवदत्ता लटक कर आत्मघात कर रही है।

राजा—(ससंभ्रममुपसृत्य) क्वासौ क्वासौ।

राजा—(घबराहट के साथ समीप जाकर) वह कहाँ है? कहाँ है वह?

विदूषकः—णं नसा। (नन्वेषा।)

विदूषक—यह तो रही।

राजा—(उपसृत्य कण्ठात्पाशमपनयन्) अयि साहसकारिणि, किमिदमकार्य क्रियते।

राजा—(समीप जाकर गले से फंदा हटाते हुये) ऐ बिना विचारे करने वाली, यह क्या अनुचित कार्य कर रही हो।

मम कन्ठगताः प्राणाः पाशे कण्ठगते तव।
अतः स्वार्थः प्रयत्नोऽयं त्यज्यतां साहसं प्रिये॥16॥

फंदे के तेरे गले में लगने पर मेरे प्राण गले में आ रहे हैं। इसलिये मेरा यह प्रयत्न स्वार्थ ही है। हे प्रिय दुस्साहस छोड़ दो॥16॥

सागरिका—(राजानं दृष्टवा) अम्मो। कधं एसो भट्टा (सहर्षमात्मगतम्) जं सच्चं एणं पेच्खिअ पुणो वि मे जीविदाहिलासो संवुत्तो। अहवा एणं पेच्खिअ कदत्था भविअ सुहेण एव्वं जीविदं परिच्चिइस्सं। (प्रकाशम्) मुञ्चदु मुम्चदु मं भट्टा। पराहीणो क्खु अअं जणो ण उण ईदिसं अवसरं मरिदुं पावेदि। (इति पुनः कण्ठे पाशं दातुमिच्छति)। (अम्मो। कथमेष भर्ता। यत्सत्यमेनं प्रेक्ष्य पुनरपि मे जीविताभिलाषः संवृत्तः। अथ वैनं प्रेक्ष्य कृतार्था भूत्वा सुखेनैव जीवितं परित्यक्ष्यामि। मुञ्चतु मुञ्चतु मां भर्ता। पराधीनः खल्वयं जनी न पुनरीदृशमवसरं मर्तुं प्राप्नोति।)

सागरिका–(राजा को देखकर) अरे! कैसे? यह तो स्वामी है। (हर्ष के साथ मन ही मन) सचमुच इसे देखकर तो फिर मुझे जीने की इच्छा हो आई। अथवा इसे देखकर और कृतार्थ होकर सुख से प्राण छोड़ूंगी। (प्रकट में) छोड़िये, स्वामी मुझे छोड़िये। यह पराधीन जन फिर मरने का ऐसा सुयोग नहीं पायेगा। (यह कहकर फिर गले में फंदा लगाना चाहती है)।

राजा–(निरूप्य सहर्षयात्मगतम्) कथं प्रिया मे सागरिका। (कण्ठात्पाशमाक्षिप्य प्रकाशम्)

अलमलमतिमात्रं साहसनामुना त
त्वरितमयि विमुञ्च त्वं लतापाशमेतम्।
चलितमपि निरोद्धुं जीवितं जीवितेशे
क्षणमिह मम कण्ठे बाहुपाशं निधेहि॥17॥

राजा–देखकर हर्ष के साथ मन में) मेरी प्रिया सागरिका कैसे! (गले में फंदा हटाकर प्रकट में)

बस, बस। तेरे इस अत्युत्कट साह से क्या! ऐ, तू इस लता पाश को जल्दी से छोड़ दे। हे प्राणेश्वरी, निकलने के लिये उद्यत (मेरे) प्राणों को रोकने के लिये क्षण भर के लिये यहाँ मेरे गले में (अपने) भुज–पाश को डाल दे॥17॥

(इति बाहुमाक्षिप्य कण्ठे कृत्वा स्पर्श नाट्यन्) (इस प्रकार भुजा खींचकर कण्ठ में डालकर स्पर्श मुख का अनुभव करते हुए)

सखे, इयमनभ्रा वृष्टिः।

मित्र, यह बिना मेघ की वृष्टि है।

विदूषकः–भो, एव्वं णंदं जइ अआलवादावली भयिअ ण आआदि देवी वासवदत्ता। (भोः, एवं न्विदं यद्यकालवातावली भूत्वा नायाति देवी वासवदत्ता)

विदूषक – अरे, ऐसा ही है, यदि असमय की आँधी बनकर महारानी वासवदत्ता न आ जाये, तब।

(ततः प्रविशति वासवदत्ता काञ्चनमाला च)

(तत्पश्चात् वासवदत्ता और काञ्चनमाला प्रवेश करती है)

वासवदत्ता–हञ्जे कञ्चणमाले, तं तधा चरणणिवडिदं अज्जउत्तं सेवधीरिअ आअच्छन्तीए मए अदिणिट्ठुरं। ता दाणिं सअं ज्जेव्व गदुसे अज्जउत्तं अणुणइस्सं। (हञ्जे काञ्चनमाले, तं तथा चरणनिपतितमार्यपुत्रमवधीर्यागच्छन्त्या मयातिनिष्ठुरं कृतम्। तदिदानीं स्वयमेव गत्वाऽऽर्यपुत्रमनुनेष्यामि।)

वासवदत्ता–असी काञ्चनमाला, चरणों में पड़े हुए आर्यपुत्र की इस प्रकार उपेक्षा करके आती हुई मैंने बहुत ही निष्ठुर कार्य किया है। इसलिये अब स्वयं ही जाकर आर्यपुत्र को प्रसन्न करूँगी।

काञ्चनमाला–को अण्णो देवीं वज्जिअ एव्वं भणिदुं जाणादि। वरं सो एव्व देव्वो दुज्जणो होदु ण उण देवी। ता एदु एदु भट्टिणी। (कोऽन्यो देवीं वर्जयित्वैवं भणितुं जानाति। वरं स एव देवो दुर्जनो भवतु न पुनर्देवी। तदेत्वेतु भर्त्री।)

काञ्चनमाला–महारानी को छोड़कर, अन्य कौन ऐसा कहना जानता है। अच्छा है, वह महाराज ही दुर्जन रहें, लेकिन महारनी नहीं। इसलिये स्वामिनी चलिये, चलिये।

(इति परिक्रामतः = दोनों घूमती हैं)

राजा–अयि मुग्धे, किमद्यापि मध्यस्थतया वयं विफलमनोरथाः क्रियामहे।

राजा–ओ मुग्धे, क्यों आज भी अपनी उदासीनता से हमें अपूर्ण–मनोरथ कर रही है।

काञ्चनमाला–(कर्ण दत्वा) भट्टिणि, जधा समीवे एसो भट्टा मन्तेदि तधा तक्केमि तुमं ज्जेव्व अणुणेदुं इदो एव्व आअच्छदि। ता एदु एदु भट्टिणी। (भर्त्रि, यथा समीप एष भर्ता मन्त्रयते तथा तर्कयामि त्वामेवानुनेतुमित एवागच्छति। तदेत्वेतु भर्त्री।)

काञ्चनमाला–(कान लगाकर) स्वामिनी, जैसा कि यह स्वामी समीप ही बोल रहे हैं, इससे अनुमान करती हूँ कि तुम्हें मनाने के लिये इधर ही आ रहे हैं। इसलिये स्वामिनी चले, चले।

वासवदत्ता–(सहर्षम्) ता अलक्खिदा एव्व पुट्ठदो गदुअ कण्ठे गेण्हिअ पसादइस्सं। (तदलक्षितैव पृष्ठतो गत्वा कण्ठे गृहीत्वा प्रसादयिष्यामि।)

वासवदत्ता–(हर्ष के साथ) तब तो बिना दिखे ही पीछे से जाकर गले से लिपट कर प्रसन्न करूँगी।

विदूषकः–भोदि साअरिए, वीसत्था भविअ पिअवअस्सं आलवेहि। (भवति सागरिके, विश्वस्ता भूत्वा प्रियवयस्यमालप।)

विदूषक – माननीय सागरिका, निर्भय होकर प्रिय मित्र से बातें करो।

वासवदत्ता – (आकर्ण्य सविषादम्) कञ्चणमाले, कधं साअरिआ इदो एव्व आअदा। ता सुणिस्सं दाव। पच्छा उवसप्पिस्सं। (इति तथा करोति)। (काञ्चनमाले, कथं सागरिकेत एवागता। तच्छ्रोष्यामि तावत्। पश्चादुपसर्पिष्यामि।)

वासवदत्ता – (सुनकर, दुःख के साथ) काञ्चनमाला कैसे सागरिका इधर ही आ गई। तब पहले सुनूंगी पीछे पास जाऊँगी। (वैसा करती है)।

सागरिका – भट्टा किं एदिणा अलीअदाक्खिण्णेण जीविदादोवि अधिअवल्लहाए देवीए अत्ताणअं अवराहिणं करेसि। (भर्तः, किमेतेनालीकदाक्षिण्येन जीवितादप्यधिकवल्लभाया देव्या आत्मानमपराधिनं करोषि।)

सागरिका – स्वामी, क्यों इस झूठे प्रेम-प्रदर्शन से अपने को प्राणों से भी प्यारी महारानी का अपराधी बना रहे हो?

राजा–अयि, मिथ्यावादिनी खल्वसि। कुतः।

राजा–अरी, तू तो झूठी बात कह रही है। क्योंकि–

श्वासोत्कम्पिनि कम्पितं कुचयुगे मौने प्रियं भाषितं
वक्त्रेऽस्याः कुटिलीकृतभ्रुणि तथा यासं मया पादयोः।
इत्थं नः सहजाभिजात्यजनिता सेवैव देव्याः परं
प्रेमाबन्धविवर्धिताधिकरसा प्रीतिस्तु या सा त्वयि॥18॥

जो इस महारानी के स्तन-पुगल के उच्छ्वास से कांपने पर मैं कांप गया, मौन होने पर प्रिय वचन कहा, मुख के कुटिल भौं वाला करने पर पैरों में पड़ गया। वह तो इस प्रकार देवी के प्रति जन्मजात कुलीनता के कारण की गई हमारी सेवा-भर थी। लेकिन, जिसमें प्रेम के बन्धन से अधिक रस बढ़ रहा है, वह प्रीति तो केवल तुझ में है॥18॥

टिप्पणी–

जनिता–जन् + णिच्।

इस श्लोक में अनुप्रास अलङ्कार तथा शार्दूलविक्रीडित छन्द का प्रयोग हुआ है।

वासवदत्ते–(सहसोपसृत्य सरोषम्) अज्जउत्त, जुत्तं एदं। सरिसं एदं। (आर्यपुत्र, युक्तमेतत्। सदृशमेतत्।)

वासवदत्ता–(वेग से समीप जाकर, रोषपूर्वक) आर्यपुत्र, यह ठीक है? यह योग्य है?

राजा–(दृष्ट्वा सवैलक्ष्यम्) देवि, न खल्वकारणे मामुपालब्धुमर्हसि। सत्यं त्वामेव मत्वा वेषसादृश्यद्विप्रलब्धा वयमिहागता:। तत्क्षम्यताम्। (इति पादयो: पतति।)

राजा–(देखकर, लज्जित होकर) देवी, कोई कारण न होने पर तुम्हें मेरा उपालम्भ नहीं करना चाहिये। सचमुच वेश की समानता से वञ्चित हुए हम तुम्हें समझकर यहाँ आ गये थे। इसलिये क्षमा करो। (यह कहकर पैरों में पड़ता है)।

वासवदत्ते–(सरोषम्) अज्जउत्त उट्ठेहि उट्ठेहि। किं अज्जवि सहजाभिजादाए सेवाए दुक्खं अणुभवीअदि। (आर्यपुत्र, उत्तिष्ठोत्तिष्ठ। किमद्यापि सहजाभिजाताया: रोवया दु:खमनुभूयते।)

वासवदत्ते–(रोषपूर्वक) आर्यपुत्र, उठो, उठो। जन्मजात कुलीन की सेवा से आज भी क्यों दु:ख उठा रहे हो?

राजा–(स्वगतम्) किमेतदपि श्रुतं देव्या। तत्सर्वथा देवीप्रसादनं प्रति निराशीभूता: स्म:। (इत्यधोमुखस्तिष्ठति)।

राजा–(स्वगत) क्या देवी ने यह भी सुन लिया? तब तो देवी को प्रसन्न कर लेने की कोई आशा नहीं है। (मुख नीचे कर लेता है।)

विदूषक:–भोदि, तुमं किल अत्ताणअं उब्बन्धिअ वावादेसित्ति वेससारिस्समोहिदेण मए पिअवअस्सो एत्थ आणीदो। जइ मम वअणं ण पत्तिआअसि ता पेक्ख इम लदापास। (इति जतापाशं दर्शयति)। (भवति, त्वं किलात्मानमुद्बध्य व्यापादयसीति वेषसादृश्यमोहितेन मया प्रियवयस्योऽत्रानीत:। यदि मम वचनं न प्रत्याययसि तत्प्रेक्षस्वेमं लतापाशम्।)

विदूषक:–देवी, तुम लटक कर आत्महत्या कर रही हो, इससे वेष की समानता से भ्रम में पड़ा हुआ मैं प्रिय को यहाँ ले आया था। यदि मेरी बात का विश्वास न हो तो, इस लता-पाश को देख लो। (लतापाश दिखलाता है)।

वासवदत्ता–(सकोपम्) हञ्जे कञ्चणमाले, एदेण एव्व लदापासेण बन्धिअ गेण्ह एणं बम्हणं। एदं अ दुव्विणदिं कण्णअं अग्गदो करेहि। (हञ्जे काञ्चनमाले, एतेनैव लतापाशेन बद्ध्वा गृहाणैनं ब्राह्मणम्। एतां च दुर्विनीतां कन्यकामग्रत: कुरु।)

वासवदत्ता–(क्रोध से) काञ्चनमाला, इसी लतापाश से बाँधकर इस ब्राह्मण को पकड़ लो और इस उद्दण्ड लड़की को आगे ले चलो।

काञ्चनमाला–जं देवी आण्णवेदि। (लतापाशेन विदूषकं बध्नती) हदास, अणुभव दाव अत्तणो दुण्णअस्स फलं। साअरिए, तुमंपि अग्गदो होहि। (यद्देव्याज्ञापयति। हताश, अनुभव तावदात्मनो दुर्नयस्य फलम्। सागरिके, त्वमप्यग्रतो भव।)

काञ्चनमाला–जैसी महारानी आज्ञा दें। (लतापाश से विदूषक को बाँधती हुई) नीच, अब अपने दुराचार का फल चख। सागरिका, तू भी आगे हो।

सागरिका–(स्वगतम्) हद्धी, कधं अकिदपुण्णाए मए मरिदुं वि अत्तणो इच्छाए ण पारिदं। (हा धिक्। कथम् कृतपुण्यया मया मर्तुमप्यात्मन इच्छया न पारितम्।)

सागरिका–(स्वगत) हाय! धिक्कार! क्यों मैं पापिन अपनी इच्छा से मर भी न सकी।

विदूषक–(सविषादं राजानमवलोक्य) भो वअस्स, सुमरेहि म अणाधं देवीए बन्धणादो विवज्जन्तं। (भो वयस्य, स्मर मामनाथं देव्या बन्धनाद्विपद्यमानम्।)

विदूषक–(विषादपूर्वक राजा को देखकर) हे मित्र, देवी के बन्धन से मरते हुए मुझे याद रखना।

(सर्वानादाय निष्क्रान्ता वासवदत्ता) (सबको लेकर वासवदत्ता चली जाती है)

राजा–(सखेदम्) कष्टं भोः कष्टम्।

राजा–(खेदपूर्वक) ओहो! बड़ा कष्ट है।

किं देव्याः कृतदीर्घरोषमुषितस्निग्धस्मितं तन्मुखं
त्रस्तां सागरिकां सुसंभृतरुषा किं तर्ज्यमानां तया
बद्ध्वा नीतमितो वसन्तकमहं किं चिन्तयामीत्यहो
सर्वाकारकृतव्यथः क्षणमपि प्राप्नोमि नो निर्वृतिम्॥19॥

क्या मैं देवी के उस मुख की चिन्ता करूँ, जिसकी स्नेह भरी मुस्कान को किये गये दीर्घ रोष ने चुरा लिया है, क्या बढ़े हुए क्रोध वाली उस देवी से धमकाई जाती हुई और डरी हुई सागरिका की चिन्ता करूँ अथवा क्या यहाँ से बाँधकर ले जाये गये विदूषक की चिन्ता करूँ? आह! इस तरह सब प्रकार से पीड़ा दी गई मैं क्षण भर से भी शान्ति नहीं पा रहा॥19॥

तत्किमिदानीमिह स्थितेन। देवीं प्रसादयितुमभ्यन्तरमेव प्रविशामि।

तो अब यहाँ बैठे हुए क्या होगा? देवी को प्रसन्न करने के लिए अन्दर ही चलूँ।

(इति निष्क्रान्ताः सर्वे = सब निकल जाते हैं)

इति संकेतकं नाम तृतीयोऽङ्कः–संकेत नामक तृतीय अङ्क समाप्त

7.3 चतुर्थोऽङ्कः

(ततः प्रविशति रत्नमालामादाय सास्रा सुसंगता)

(रत्नमाला लिये आँसू बहाती हुई सुसङ्गता प्रवेश करती है)

सुसङ्गता–(सकरुणं निःश्वस्य) हा पिअसहि साअरिए, हा लज्जालुए, हा उदारसीले, हा सहीजणवच्छले, हा सोम्मदंसणे, कहिं दाणिं तुमं मए पेक्खिदव्वा (इति रोदिति। ऊर्ध्वमवलोक्य निःश्वस्य च) अयि देव्वहदअ, अकरुण, असामण्णरूवसोहा तादिसी तुए जइ णिम्मिदा ता कीस उण ईदिसं अवत्थन्तरं पाविदा। इअं अ रअणमाला जिविदणिरासाए ताए कस्सवि बम्हणस्स हत्थे पडिवादेसुत्ति भणिअ मम हत्थे समप्पिदा। ता जाव कंपि बम्हणं अण्णेसामि। (परिक्रम्याग्रतोऽवलोक्य च) अए कधं एसो क्खु अज्जवसन्तओ इदो जेव्व आअच्छदि। ता जाव एदस्स एव्व पडिवादइस्सं। (हा प्रियसखि सागरिके, हा लज्जालुके, हा उदारशीले, हा सखीजनवत्सले हा सौम्यदर्शने, कुत्रेदानीं त्वं मया प्रेक्षितव्या। अयि दैवहतक, अकरुण असामान्यरूपाशेभा तादृशी त्वया यदि निर्मिता तत्कस्मात्पुनरीदृशमवस्थान्तरं प्रापिता। इयं च रत्नमाला जीवितनिराशया तया कस्यापि ब्राह्मणमन्विष्यामि अये, कथमेष खलु आर्यवसन्तक इत एवागच्छति। तद्यावदेतस्मा एद। प्रतिपादयिष्यामि।

सुसङ्गता–(करुणा सहित लम्बा साँस लेकर) हाय, प्रिय सखी सागरिका! हाय, लज्जाशील! हाय, उदार स्वभाव वाली! हाय, सखियों से प्रेम रखने वाली! हाय, सरल दर्शन वाली! अब मैं तुझे कहाँ देखूंगी? (रोती है, ऊपर देखकर और लम्बा साँस लेकर) अरे निष्ठुर दुष्ट भाग्य, यदि तूने वह असाधारण रूप सौन्दर्य वाली बनाई थी, तो उसकी ऐसी दुर्दशा क्यों की? जीवन से निराश हुई उसने यह रत्नमाला 'इसे किसी ब्राह्मण के हाथ में दे देना', यह कहकर मेरे हाथ में दी। तो अब किसी ब्राह्मण की खोज करूँ। (घूमकर और आगे देखकर) अरे, यह तो आर्य वसन्तक ही इधर आ रहा है। तब इसी को इसे दे दूँगी।

(ततः प्रविशति प्रहृष्टो वसन्तकः) (प्रसन्न हुआ वसन्तक प्रवेश करता है)

विदूषकः–ही ही भो, अज्ज क्खु पिअवअस्सेण पसादिदाए तत्तभोदीए वासवदत्ताए बन्धणादो मोचिअ सहत्थदिण्णेहिं मोदएहिं चिरसस दाव कालस्स उवरं मे सुपूरिदं किवं। अण्णं च, एदं पट्ट सुअजुअलं कण्णाभरणं अ दिण्णं। ता जाव दाणिं गदुअ पिअस्सं पेक्खामि। (इति परिक्रामति)। (ही ही भोः, अद्य खलु प्रियवयस्येन प्रसादितया तत्रभवत्या वासवदत्तया बन्धनान्मोचयित्वा स्थहस्तदत्तैर्मोदकैश्चिरस्य तावत्कालस्योदरं मे सुपूरितं कृतम्। अन्यञ्च, एतत्पट्टांशुकयुगलं कर्णाभरणं च दत्तम्। तद्यावदिदानीं प्रियवयस्यं प्रेक्षे।)

विदूषक–आहा हा हा! अरे, आज तो बहुत समय बाद प्रिय मित्र द्वारा प्रसन्न की गई महारानी वासवदत्ता ने मुझे बन्धन से छुड़ाकर अपने हाथ से दिये लड्डुओं से मेरा पेट अच्छी तरह से भरा है और यह रेशमी वस्त्रों का जोड़ा तथा कर्णाभूषण भी दिया है तो अब जाकर प्रिय मित्र को देखूंगा।

(घूमता है)

सुसङ्गता–(रुदती सहसोपसृत्य) अज्ज वसन्तअ, चिट्ठ दाव मुहूत्तअं। आर्य वसन्तक, तिष्ठ तावन्मुहूर्तम्।

सुसङ्गता–(रोती हुई, जल्दी से पास जाकर) आर्य वसन्तक, क्षण भर ठहरो।

विदूषकः–(दृष्ट्वा) कधं सुसंगवा। सुसंगवे, किं णिमित्तं रोदीअदि। ण क्खु साअरिआए अच्चाहिदं किंपि संवुत्तम्। (कथं सुसंगता। सुसंगते, किं निमित्तं वद्यते। न खलु सागरिकाया अत्याहितं किमपि संवृत्तम्।)

विदूषक–(देखकर) क्या सुसङ्गता, क्यों रो रही हो? कहीं सागरिका का कोई भारी अनिष्ट तो नहीं हो गया?

सुसङ्गता–अज्ज वसन्तअ, एदं ज्जेव णिवेदइस्सं। सा क्खु तवस्सिणौ देवीए उज्जइणिं णीअदि त्ति प्पवादं कदुअ उवत्थिदे अद्धरत्ते ण जाणोआदि कहिं णीदेत्ति। (आर्य वसन्तक, एतदेव निवेदयिष्यामि। सा खलु तपस्विनौ देव्योज्जयिनीं नीयत इति प्रवादं कृत्वोपस्थितेऽर्धरात्रे न ज्ञायते कुत्र नीतेति।)

सुसङ्गता–आर्य वसन्तक, यही तो बतलाऊँगी। उस पीड़िता को महारानी ने 'उज्जयिनी भेजी जा रही है' यह अफवाह फैलाकर आधी रात होने पर न जाने कहाँ भेज दिया?

विदूषकः–(सोद्वेगम्) अदिणिग्धिणं क्खु देवीए किदं। (अतिनिर्घृणं खलु देव्या कृतम्।)

विदूषक–(उद्वेग के साथ) देवी ने बड़ा निष्ठुर काम किया।

सुसङ्गता–इअ च रअणमाला ताए जीविदणिरासाए अज्जवसन्तअस्स हत्थे पडिवादेसित्ति भणिअ मम हत्थे समप्पिदा। ता गेण्हदु अज्जो एदं। (इणं च रत्नमाला तया जीवितनिराशयाऽऽयंवसन्तकस्य हस्ते प्रतिपादयेत्युक्त्वा मम हस्ते समर्पिता। तद् गृह्णात्वार्य एताम्।)

सुसङ्गता–जीवन से निराश हुई उसने इस रत्नमाला को यह कहकर कि इसे आर्य वसन्तक को दे देना, मुझे दे दिया तो आर्य इसे स्वीकार करें।

विदूषकः–(सास्रम्) भोदि, ण मे ईदिसे पत्था वे हत्था गेण्हिदुं पसरन्ति। (भवति, न म ईदृशे प्रस्तावे हस्तौ गृहीतुं प्रसरतः।)

विदूषक–(आँसुओं के साथ) आदरणीये, इस परिस्थिति में मेर हाथ लेने को आगे नहीं बढ़ रहे हैं।

(इत्युभौ रुदितः) (दोनों रोते हैं)

सुसङ्गता–(अञ्जलिं वद्ध्वा) ताए एव्व अणुग्गहं करन्तो अङ्गहीकरेषु एवं अच्चो। (तस्या एवानुग्रहं कुर्वन्नङ्गीकरोत्वेतामार्यः।)

सुसङ्गता–(हाथ जोड़कर) उसी पर अनुग्रह करते हुए आर्य इसे स्वीकार करें।

विदूषकः–(विचिन्त्य) अह दा उवणेहि। जेण इमाए ज्जेव्व साअरिआविरह-दुक्खिदं पिअवस्सं विणोदइस्सं। (अथ वोपनय। येनैतयैव सागरिकाविरहदु:खितं प्रियवयस्यं विनोदयिष्यामि।)

विदूषक–(सोचकर) अथवा लाओ, क्योंकि इसी से सागरिका के वियोग से दु:खी प्रिय मित्र का विनोद करूँगा।

(सुसंगतोपनयति) (सुसङ्गता देती है)

विदूषकः–(गृहीत्वा निरूप्य सविस्मयम्) सुसंगदे, कुदो उण ताए ईदिसस्स अलंकारस्स समागमो। (सुसंगते, कुतः पुनस्तस्या ईदृशस्यालङ्कारस्य समागमः।)

विदूषक–(लेकर और देखकर विस्मय से) सुसङ्गता, लेकिन उसे ऐसा अलङ्कार मिला कहाँ से?

सुसङ्गता–अज्ज, मए वि सा कोदुहलेण पुच्छिदा ज्जेव असि। (आर्य, मयापि सा कौतूहलेन पृष्टवाऽऽसीत्।)

सुसङ्गता–आर्य, मैंने भी उत्सुकतावश उससे पूछा था।

विदूषकः–तवो ताए किं भणिदं। (ततस्तया किं भणितम्।)

विदूषक–तब उसने क्या कहा?

सुसङ्गता–तदो सा उद्धं पेक्खिअ दीहं णिस्ससिअ 'सुसंगदे, किं दाणिं तुह इमाए कधाए' त्ति भणिअ रोदिदुं पउत्ता। (ततः सोर्ध्वं प्रेक्ष्य दीर्घं निःश्वस्य 'सुसंगते, किमिदानीं तवानया कथया' इति भणित्वा रोदितुं प्रवृत्ता।)

सुसङ्गता–तब वह ऊपर को देखकर लम्बा साँस छोड़कर और यह कहकर –'सुसङ्गता, तुझे अब इस बात से क्या'–ऐसा कहकर रोने लगती है।

विदूषकः–णं कधिद एव्व सामण्णजणदुल्लहेण इमिणा परिच्छदेण–'सव्धा महाभिजणसमुप्पण्णाए ताए होदव्वं त्ति। सुसंगदे, पिअवअस्सो दाणिं कहिं। (ननु कथितमेव सामान्यजनदुर्लभेनानेन परिच्छदेन–सर्वथा महाभिजनसमुत्पन्नया तया भवितव्यम्' इति। सुसंगते, प्रियवयस्य इदानीं कुत्र।)

विदूषक–निश्चय ही साधारण लोगों के लिये दुर्लभ, इस अलङ्कार से बतला दिया–वह अवश्य ही किसी बड़े कुल में उत्पन्न हुई होगी। सुसङ्गता, प्रिय मित्र इस समय कहाँ है?

सुसङ्गता–अज्ज, एसो क्खु भट्टा देवीभवणादो णिक्कमिअ फडिअसिलामण्डवं गदो। ता गच्छदु अज्जो। अहवि देवीए पासवत्तिणी भविस्सं (आर्य, एष खलु भर्ता देवीभवनान्निष्क्रम्य स्फटिकशिलामण्डपं गतः। तद्गच्छत्वार्यः। अहमपि देव्याः पार्श्ववर्तिनी भविष्याम।)

सुसङ्गता–आर्य, यह स्वामी महारानी के भवन से निकलकर स्फटिक-शिला–मण्डप में गये हैं। तब आर्य भी जायें। मैं भी महारानी के पास रहती हूँ।

विदूषकः–एव्वं। (एवम्।)

विदूषक–ऐसा (ही हो)।

(इति निष्क्रान्तौ) (दोनों चले जाते हैं)

इति प्रवेशकः–प्रवेशक समाप्त

(ततः प्रविशत्यासनस्थो राजा) (तब आसन पर स्थित राजा प्रविष्ट होता है)

राजा–(विचिन्त्य)

सव्याजैः शपथैः प्रियेण वचसा चित्तानुवृत्याधिकं
वैलक्ष्येण परेण पादपतनैर्वाक्यैः सखीनां मुहुः।
प्रत्यापत्तिमुपागता न हि तथा देवी रुदत्या यथा
प्रक्षाल्येव तयैव बाष्पसलिलैः कोपोऽपनीतः स्वयम् ॥1 ॥

राजा–(सोचकर)

युक्तिपूर्वक की गई शपथों से, प्रिय वचन से, अत्यधिक मनोनुकूल आचरण से, अतिलज्जित होने से, चरणों में पड़ने से और सखियों के बार-बार कहे गये वचनों से देवी (वासवदत्ता) उतना सामान्य नहीं हुई जितना कि रोती हुई उसने स्वयं आँसुओं के जल से, मानो धोकर, कोप दूर कर लिया ॥1 ॥

टिप्पणी–

प्रत्यापत्ति–प्रति + आ + पद् + क्तिन्।

इस श्लोक में उत्प्रेक्षा अलङ्कार तथा शार्दूलविक्रीडित छन्द का प्रयोग हुआ है।

(सोत्कण्ठं निःश्वस्य) इदानीं देव्यां प्रसादितायां सागरिकाचिन्तैव केवलं मां बाधते। कुतः

(व्याकुलता से उच्छ्वास लेकर) अब देवी के प्रसन्न हो जाने पर केवल सागरिका की चिन्ता ही मुझे सता रही है। क्योंकि–

अम्भोजगर्भसुकुमारतनुस्तथासौ कण्ठग्रहे प्रथमरागघने विलीय।
सद्यःपतन्मदनमार्गणरन्ध्रमार्गैर्मन्ये मम प्रियतमा हृदयं प्रविष्टा ॥2 ॥

कमल के मध्य भाग के समान कोमल शरीर वाली वह प्रियतमा (सागरिका) प्रथम अनुराग के कारण गाढ कण्ठालिङ्गन में उस प्रकार अच्छी तरह विलीन होकर तत्क्षण पड़ने वाले कामदेव के बाणों के छिद्रों के मार्गों से मानो, हृदय में प्रविष्ट हो गई है ॥2 ॥

(विचिन्त्य) योऽपि मे विश्वासस्थानं वसन्तकः सोऽपि देव्या संयतः। तत्कस्याग्रतो वाष्पमोक्षं करिष्ये। (इति निःश्वसिति)।

(सोचकर) जो ही मेरा विश्वासपात्र वसन्तक था, वह भी देवी द्वारा बांध दिया गया है। तब किसके आगे आँसू बहाऊँ? (निःश्वास छोड़ता है)।

(ततः प्रविशति वसन्तकः = तत्पश्चात् वसन्तक प्रवेश करता है)

विदूषकः–(राजानं दृष्ट्वा) एसो क्खु णिब्भरोक्कण्ठापरिक्खामं पि सलाहणिअलावण्णं तणुं समुव्वहन्तो उदितो दुदिआचन्दो विअ अहिअदरं सोहदि पिअवअस्सो। ता जाव णं उपसप्पामि। (उपसृत्य) सोत्थि भवदे। दिट्ठिआ विट्ठोसि देवीहत्थगदेणावि मए पुणोवि एदेहिं अच्छीहिं। (एष खलु निर्भरोत्कण्ठापरिक्षामामपि श्लाघनीयलावण्यां तनुं समुद्वहन्नुदितो द्वितीयाचन्द्र इवाधिकतरं शोभते प्रियवयस्यः। तद्यावदेनमुपसर्पामि। स्वस्ति भवते। दिष्ट्या दृष्टोऽसि देवीहस्तगतेनापि मया पुनरप्येताभ्यामक्षिभ्याम्।)

विदूषक–अत्यधिक चिन्ता से क्षीण होते हुए भी प्रशंसनीय सौन्दर्य वाले शरीर को धारण करता हुआ यह प्रिय मित्र नवोदित द्वितीया के चन्द्रमा के समान और अधिक अच्छा लग रहा है। तब अब इसके पास जाती हूँ। (पास जाकर) आपका कल्याण हो। सौभाग्य से देवो के हाथ में पड़ जाने पर भी मैंने फिर इन आँखों से तुम्हें देख लिया।

राजा–(दृष्ट्वा सहर्षम्) अये, वसन्तकः प्राप्तः। सखे परिष्वजस्व माम्।

राजा–(देखकर हर्ष के साथ) आह! वसन्तक आ गया। मित्र, मेरा आलिङ्गन कर लो।

विदूषकः–(परिष्वजति)

विदूषक–(आलिङ्गन करता है)।

राजा–वयस्य, वेषेणैव निवेदितस्ते देव्याः प्रसादः। तत्कथ्यतामिदानीं सागरिकायाः का वार्तेति।

राजा–मित्र, वेष ने ही तुझ पर महारानी का अनुग्रह कह दिया तो यह बतलाओ कि अब सागरिका का क्या समाचार है।

(विदूषकः सवैलक्ष्यमधोमुखस्तिष्ठति = विदूषक लज्जा से मुख नीचा करके रहता है)

राजा–वयस्य, किं न कथयसि।

राजा–मित्र, कहते क्यों नहीं?

विदूषकः–अप्पिअंदे णिवेदिदुं ण पारेमि। (अप्रियं ते निवेदयितुं न पारयामि।)

विदूषक–तुमसे अप्रिय निवेदन करने में मेरा सामर्थ्य नहीं है।

राजा–(सोद्वेगम्) वयस्य, कथमप्रियम्। व्यक्तमेवोत्सृष्टं जीवितं तया। हा प्रिय सागरिके। (इति मोहं नाटयति)।

राजा–(उद्वेगपूर्वक) मित्र, अप्रिय कैसे? निश्चित ही उसने प्राण-त्याग दिये है। हाय, प्यारी सागरिका! (मूर्छित होता है)

विदूषकः–(ससंभ्रमम्) समस्ससदु समस्ससदु पिअवअस्सो। (समाश्वसितु समाश्वसितु प्रियवयस्यः।)

विदूषक–(घबराहट के साथ) प्रिय मित्र, धैर्य रखिये, धैर्य रखिये।

राजा–(समाश्वस्य सास्त्रम्)

राजा–(संभलकर आँसू सहित)

प्राणाः परित्यजत काममदक्षिणं मां
रे दक्षिणा भवत मद्वचनं कुरुध्वम्।
शीघ्रं न यात यदि तन्मुषिताः स्थ नून
याता सुदूरमधुना गजगामिनी सा॥3॥

हे प्राणों मुझ अत्यनुदार को तुम छोड़ दो, मेरे अनुकूल बनो, मेरी बात मानो। यदि तुम शीघ्र मुझे छोड़कर? नहीं चले जाते हो, तो निश्चय ही तुम ठगे गये, क्योंकि हाथी के समान सुन्दर गति वाली वह सागरिका अब दूर जा चुकी है॥3॥

विदूषकः–भो वअस्स, मा अण्णधा संभावेहि। स क्खु तवस्सिणी देवीए उज्जइणिं पेसिदति सुणीअदि। तदो मए अप्पिअंत्ति भणिदं। (भो वयस्य, यान्यथा संभावय। सा खलु तपस्विनी, देव्योज्जयिनीं प्रेषितेति श्रूयते। अतो मयाऽप्रियमिति भणितम्।)

विदूषकः–हे मित्र, कुछ और न समझो। उस पीड़िता को महारानी ने उज्जयिनी भेज दिया है, ऐसा सुना जा रहा है। इसलिये मैंने 'अप्रिय' इस प्रकार कह दिया।

राजा–कथमुज्जयिनीं प्रषिता। अहो निरनुरोधा मयि देवी। वयस्य, केन तवैतदाख्यातम्।

राजा–क्या उज्जयिनी भेज दिया? ओह! देवी का मेरे प्रति कैसा उपेक्षाभाव है। मित्र, तुमसे यह किसने कहा?

विदूषकः–(सास्त्रं निःश्वस्य) भां सुसंगदाए। अण्णं च, मम हत्थे ताए किं पि णिमित्तं इअं रअअमाला पेसिदा। (भोः सुसंगतया। अन्यच्च, मम हस्ते तया किमपि निमित्तमियं रत्नमाला प्रेषिता।)

विदूषक–(आँसू भर कर लम्बा साँस लेकर) अरे, सुसङ्गता ने और साथ ही उसने किसी कारण से यह रत्नमाला भी मेरे पास भेजी है।

राजा–किमपरं मामाश्वासयितुम्। तद्वयस्य, उपनय।

राजा–और क्या (कारण हो सकता है)? सिवाय मुझे सान्त्वना देने के लिए इसलिये मित्र लाओ।

(विदूषक उपनयति) (विदूषक समीप ले जाता है)

राजा–(गृहीत्वा रत्नमालां निर्वर्ण्यं हृदये निधाय) अहह!

राजा–(लेकर, रत्नमाला को ध्यान से देखकर और वक्षस्थल पर रखकर) हाय!

कण्ठाश्लेषं समासाद्य तस्याः प्रभ्रष्टयानया।
तुल्यावस्था सखीवेयं तनुराश्वास्यते मम ॥4 ॥

उसके सागरिका के कण्ठ का आलिङ्गन पाकर अलग हुई यह माला मेरे समान दशा वाले मेरे इस शरीर को सखी के समान सान्त्वना दे रही है॥4 ॥

वयस्य, त्वं परिधत्स्वैनाम्। येन वयमेनामपि तावद् दृष्ट्वा धृतिं करिष्यामः।

मित्र, तुम इसे पहनो, जिससे हम इसे देखकर सन्तोष पा सकें।

विदूषकः–भो जं भवं आण्णवेदि। (परिदधाति)। (भोः यद्भवानाज्ञापयति।)

विदूषक–जो आप आज्ञा दें। (पहनता है)

राजा–(मास्रम्) वयस्य, दुर्लभं पुनर्दर्शनं प्रियायाः।

राजा–(आँसू भरकर) मित्र, प्रिया सागरिका का दर्शन तो दुर्लभ है।

विदूषकः–(सभयं दिशोऽवलोक्य) भो वअस्स, मा एव्वं उच्चं मन्तेहि। कदावि को वि देवीए एत्थ संचरदि। (भो वयस्य, मैवमुच्चैर्मन्त्रयस्व। कदापि कोऽपि देव्या अत्र संचरति।)

विदूषक–(डरते हुए चारों ओर देखकर) अरे मित्र, ऐसे जोर से मत बोलो। कहीं कोई देवी वासवदत्ता का कोई परिजन यहाँ घूम रहा हो।

(ततः प्रविशति वेत्रहस्ता वसुन्धरा) (तब हाथ में बेंत लिये वसुन्धरा प्रवेश करती है)

वसुन्धरा–(उपसृत्य) जअदु जअदु भट्टा। भट्टा, एसो क्खु रुमण्णवो भाइणेओ विजअवम्मा पिअं किंपि णिवेदिदुकामो दुआरे चिट्ठदि। (जयतु जयत् भर्ता। भर्तः, एष खलु रुमण्वतो भागिनेयो विजयवर्मा प्रियं किमपि निवेदयितुकामो द्वारि तिष्ठति।)

वसुन्धरा–(समीप जाकर) जय हो, स्वामी की जय हो। स्वामी कुछ प्रिय निवेदन करने की इच्छा वाला यह रुमण्वान् का भानजा विजयवर्मा द्वार पर स्थित है।

राजा–वसुन्धरे, अविलम्बितं प्रवेशय।

राजा–वसुन्धरा, शीघ्र ही प्रवेश कराओ।

वसु–जं देवो आणवेदि। (निष्क्रम्य विजयवर्मणा सह पुनः प्रविश्य च) विजअवम्म, एसो क्खु भट्टा। उपसप्पदु अज्जो। (यद्देव आज्ञापयति विजयवर्मन्, एष खलु भर्ता। उपसर्पत्वार्यः।)

वसुन्धरा–जो देव की आज्ञा हो। (बाहर जाकर विजयवर्मा के साथ फिर पवेश करके) विजयवर्मा, यह (सामने) स्वामी हैं। तो आर्य के पास जावें।

विजयवर्मा–(उपसृत्य) जयतु जयतु देवः। देव, दिष्टया वर्धसे रुमण्वतो विजयेन।

विजयवर्मा–जय हो, महाराज की जय हो। महाराज, सौभाग्य से रुमण्वान् की विजय द्वारा आपकी वृद्धि हो रही है।

राजा–साधु रुमण्वन साधु। अचिरान्महत्प्रयोजनमनुष्ठितम्। विजयवर्मन्, इत आस्यतान्। (विजयवर्मोपविशति)

राजा–वाह, रुमण्वान् वाह! जल्दी ही बहुत बड़ा प्रयोजन सिद्ध कर दिया। विजयवर्मा, इधर बैठो। (विजयवर्मा बैठता है)।

राजा–विजयवर्मन्, जित: कोसलेश्वर:।

राजा–विजयवर्मा, कोसल का राजा जीत लिया?

विजयवर्मा–दवस्य प्रभावेण।

विजयवर्मा–महाराज के प्रताप से।

राजा–विजयवर्मन् तत्कथय कथमिति विस्तरत: श्रोतुमिच्छामि।

राजा–विजयवर्मा, बतलाओ तो कैसे? विस्तार से सुनना चाहता हूँ।

विजयवर्मा–देव, श्रूयताम्। इतो देवादेशात्कतिपयैरेवाहोभिरनेककरितुर-गणपत्तिदुर्निवारेण महता बलसमूहेन गत्वा विन्ध्यदुर्गावस्थितस्य कोसलाधिपतेर्द्वारमवष्टभ्य सेना: समावेशयितुं समारब्धवान्।

विजयवर्मा–महाराज, सुनिये। रुमण्वान् ने महाराज के आदेश से कुछ ही दिनों में अनेक हाथियों, घोड़ों तथा पैदल सिपाहियों के कारण दुर्जेय बड़ी सेना के साथ यहाँ से जाकर विन्ध्य-दुग में स्थित कोसलाधिपति के मार्ग को रोककर सेनाओं का शिविर में प्रवेश करना प्रारम्भ कर दिया।

राजा–ततस्तत:।

राजा–उसके बाद?

विजयवर्मा–तत: कोसलेश्वरोऽप्यतिदर्पात्परिभवमसहमानो हास्तिकप्रायम-शेषमात्मसैन्यं सज्जीकृतवान्।

विजयवर्मा–तब कोसलाधिपति ने भी अभिमान के कारण अपमान को न सहते हुए अपनी सम्पूर्ण सेना, जिसमें प्राय: हाथी थे, तैयार कर ली।

विदूषक:–भो, लहु आचक्ख। वेवदि विअ मे हिअअं। (भो:, लघ्वाचक्ष्व। वेपत इव मे हृदयम्।)

विदूषक–अरे, शीघ्र कहो। मेरा हृदय काँप-सा रहा है।

राजा–ततस्तत:।

राजा–उसके बाद?

विजयवर्मा–देव, कृतनिश्चयश्चासौ।

विजयवर्मा–महाराज, निश्चय किये वह–

योद्धुं निर्गत्य विन्ध्यादभवदभिमुखस्तत्क्षणं दिग्वभागा-
न्विन्ध्येनेवापरेण द्विपपतिपृतनापीडबन्धेन रुन्धन्।
वेगाद्बाणान्विमुञ्चन्समदकरिघटोत्पिष्टपत्तिर्निपत्य ।
प्रत्यैच्छद्वाञ्छितासिद्विगुणितरभसस्तं रुमण्वान्क्षणेन ॥5 ॥

युद्ध के लिये विन्ध्य से निकल कर उस क्षण गजेन्द्रों की सेना की चक्रव्युह-रचना से मानो द्वितीय विन्ध्य से दिशाओं को आच्छादित करता हुआ सामने आया। वेगपूर्वक बाणों को छोड़ता हुआ, मद वाले

हाथियों के समूह से कुचली गई पदाति-सेनाओं वाला और अभिलषित की प्राप्ति से दुगुने उत्साह वाला रुमण्वान् झपट कर क्षण भर में उसके सामने पहुँच गया॥5॥

टिप्पणी–

इस श्लोक में उत्प्रेक्षा अलङ्कार आया है तथा स्रग्धरा छन्द का प्रयोग हुआ है।

अपि च

अस्त्रव्यस्तशिरस्त्रशस्त्रकषणोत्कृत्तोत्तमाङ्गे क्षणं
व्यूढासृक्सरिति स्वनत्प्रहरणे वर्मोद्वलद्वह्निनि।
आहूयाजिमुखे स कोसलपतिर्भङ्गप्रतीपीभव-
न्नेकेनैव रुमण्वता शरशतैर्मत्तद्विपस्थो हतः॥6॥

और भी–

युद्ध के क्षेत्र में, जिसमें अस्त्रों से उड़ाये गये शिरस्त्राणों और शास्त्रों की रगड़ से सिर काटे जा रहे थे, जिसमें क्षण भर में रुधिर की नदी उमड़ आई थी, जिसमें शस्त्र खड़क रहे थे और जिसमं कवचों से अग्नि निकल रही थी, (अपने) पराभव का प्रतिरोध करते हुए और मदमस्त हाथी पर बैठे हुए कोसलाधिपति को ललकार कर अकेले रुमण्वान् ने सैकड़ों तीरों से मार दिया॥6॥

विदूषकः–जेदु जेदु भवं। जिदं अम्हेहिं। (इत्युत्थाय नृत्यति)। (जयतु जयतु भवान् जितमस्माभिः।)

विदूषक–जय हो, आपकी जय हो। हम जीत गये। (यह कहकर उठकर नाचता है)।

राजा–साधु कोसलपते, साधु। मृत्युरपि ते श्लाध्यो यस्य रिपवोऽपि पुरुषकारमेवं वर्णयन्ति। ततस्ततः।

राजा–धन्य हो, कोसलाधिपति, तुम धन्य हो। तुम्हारी मृत्यु भी प्रशंसनीय है, जिसके पराक्रम का शत्रु भी इस प्रकार वर्णन करते हैं। उसके बाद?

विजयवर्मा–देव, ततो रुमण्वानपि कोसलेषु मद्भ्रातरं ज्यायांसं जयवर्माणं स्थापयित्वा समरव्रणितमशेषसैन्यमनुवर्तमानः शनैः शनैरागच्छत्येव।

विजयवर्मा–महराज, उसके बाद मेरे बड़े भाई जयवर्मा को कोसल में रखकर रुमण्वान् भी युद्ध में घायल हुई सारी सेना के पीछे-पीछे धीरे-धीरे आ ही रहा है।

राजा–वसुन्धरे, उच्यतां यौगन्धरायणः–'दीयतां मत्प्रसादोऽस्य' इति।

राजा–हे वसुन्धरा! यौगन्धरायण को आज्ञा दीजिए कि इस सेना को मेरी ओर अभय प्रदान करे।

वसुन्धरा–जं देवो आणवेदि। (इति विजयवर्मणा सह निष्क्रान्ता)। (यद्देव आज्ञापयति।)

वसुन्धरा–जो देव की आज्ञा हो। (यह कहकर विजयवर्मा के साथ बाहर आती है)।

(ततः प्रविशति काञ्चनमाला) (तत्पश्चात् काञ्चनमाला प्रवेश करती है)

काञ्चनमाला–आण्णत्तम्हि देवीए जधा–'हञ्जे कञ्चणमाले, गच्छ। एवं इन्दजालिअं अज्जउत्तस्स दंसेहि त्ति। (परिक्रम्यावलोक्य च) एसो क्खु भट्टा। ता जाव उवसप्पामि। (उपसृत्य) जेदु जेदु भट्टा। भट्टा, देवी विण्णवेदि–'एसो क्खु उज्जइणीदो सव्वसिद्धि णाम इन्दजालिओ आअदो। ता पेक्खदु णं अज्जउत्तो' त्ति। (आज्ञप्तास्मि देव्या यथा–'हञ्जे काञ्चनमाले, गच्छ। इममैन्द्रजालिकमार्यपुत्रस्य दर्शय इति। एष खलु भर्ता। तद्यावदुपसर्पामि। जयतु जयतु भर्ता। भर्तः, देवी विज्ञापयति–'एष खलूज्जयिनीतः सर्वसिद्धर्नामैन्द्रजालिक आगतः। तत्प्रेक्षतामेनमार्यपुत्रः' इति।)

काञ्चनमाला–महारानी ने मुझे आज्ञा दी है कि–अरी काञ्चनमाला! जा, इस ऐन्द्रजालिक को आर्यपुत्र को दिखला दे। (घूमकर और देखकर) स्वामी यह है। तब पास जाती हूँ। (पास जाकर) जय हो, स्वामी की जय हो। महारानी ने निवेदन किया है–'यह सर्वसिद्धि नाम का ऐन्द्रजालिक उज्जयिनी से आया है। आर्यपुत्र इसे देखें।'

राजा–अस्ति नः कौतुकमैन्द्रजालिके। तदेनं शीघ्रं प्रवेश्य।

राजा–इन्द्रजाल में हमें भी उत्सुकता है। इसलिये शीघ्र प्रवेश कराओ।

काञ्चनमाला–जं देवो आणवेदि। (इति निष्क्रम्य पुनः पिच्छिकाहस्तेनैन्द्र-जालिकेन सह प्रविशति)। (यद्देव आज्ञापयति।)

काञ्चनमाला–जो देव आज्ञा दें।

(बाहर जाकर फिर हाथ में मोरपंखी लिये ऐन्द्रजालिक के साथ प्रवेश करती है)

ऐन्द्र–(पिच्छिकां भ्रामयन्)

ऐन्द्रजालिक–(मोरपंखी घुमाता हुआ)

पणमह चलणे इन्दस्स इन्दजालअपिणद्धणामस्स।
तह जेव्व संबरस्स माआसुपरिट्ठिदजसस्स॥7॥

(प्रणमत चरणाविन्द्रस्येन्द्रजालकपिनद्धनाम्नः।
तथैव शम्बरस्य मायासुपरिस्थितयशसः॥)

इन्द्रजाल से जुड़े हुए नाम वाले इन्द्र के चरणों को प्रणाम करो तथा माया के लिये विख्यात कीर्ति वाले शम्बर (नामक असुर) के चरणों को प्रणाम करो॥7॥

काञ्चनमाला–(उपसृत्य) भट्टा, एसो क्खु इन्द्रजालिओ। (भर्तः, एष खल्वैन्द्रजालिकः।)

काञ्चनमाला–(पास जाकर) स्वामी, यही वह ऐन्द्रजालिक है।

ऐन्द्रजालिक–जअदु जअदु देवो। देव,

ऐन्द्रजालिक–जय हो, महाराज की जय हो। महाराज,

किं धरणिए मिअङ्को आआसे महिअरो जले जलणो।
मज्झएहम्हि पओसो दाविज्जइ देहि आण्णत्तिम्॥8॥

क्या पृथिवी पर चन्द्रमा, आकाश में पर्वत, जल में अग्नि अथवा मध्याह्न में रात्रि का प्रथम का प्रथम भाग दिखलाया जाये? आज्ञा दीजिये॥8॥

अहवा किं बहुणा जप्पिदेण।

मज्ज पइण्णा एसा जं जं हिअएण इहसि संदट्ठु।
तै तं दंसेमि अहं गुरुणो मन्तप्पहावेण॥9॥

जयतु जयतु देवः। देव,

किं धरण्यां मृगाङ्क आकाशे महीधरो जले ज्वलनः।
मध्याह्ने प्रदोषो दर्श्यतां देह्याज्ञप्तिम्॥

अथवा किं बहुना जल्पितेन

मम प्रतिज्ञैषा यद्यद् हृदयेनेहसे संदष्टुम्।
तत्तद्दर्शयाम्यहं गुरोर्मन्त्रप्रभावेण॥

अथवा अधिक क्या कहूँ–

मेरी यह प्रतिज्ञा है कि आप हृदय में जो–जो देखने की इच्छा करेंगे, मैं गुरु के मन्त्र के प्रभाव से वह वह दिखला दूँगा ॥9 ॥

विदूषक–भो वअस्स अवहिदो होहि। ईदिसो से अवट्टम्भो जेणसव्वंपि सम्भाविअदि। (भो वयस्य, अवहितो भव। ईदृशोऽस्यावष्टम्भो येन सर्वमपि सम्भाव्यते।)

विदूषक–हे मित्र, सावधान हो जाओ। इसकी ऐसी एकड़ी है, जिससे सब कुछ सम्भव है।

राजा–भद्र, तिष्ठ तावत्। काञ्चनमाल, उच्यतां देवी–'युष्मदीय एवायमैन्द्रजालिको विजनीकृतश्चायमुद्देशः। तदागच्छ। सहितावेवैनं पश्याव इति।

राजा–भद्र, तनिक ठहरो। काञ्चनमाला, महारानी से कहो–'यह ऐन्द्रजालिक तुम्हारा ही है और यह स्थान भी निर्जन कर दिया है। इसलिए आओ, दोनों साथ ही इसे देखें।

काञ्चनमाला–जं भट्टा आण्णवेदि। (इति निष्क्रम्य वासवदत्तया सह प्रविशति)।

काञ्चनमाला–जो स्वामी आज्ञा देवें।

(यद्भर्ताऽऽजापयति = यह कहकर बाहर जाती है)

वासवदत्ता–काञ्चणमाले, उज्जइणीदो आअदोत्ति अत्थि मे तस्सिं इन्द्रजालिए वक्खवादो। (काञ्चनमाले, उज्जयिनीत आगत इत्यस्ति मे तस्मिन्नैन्द्रजालिके पक्षपातः।)

वासवदत्ता–काञ्चनमाला उज्जयिनी से आया है, इसलिये मेरा उस इन्द्रजालिक के प्रति पक्षपात झुकाव है।

काञ्चनमाला–णादिउलबहुमाणो क्खु एसे भट्टिणीए। ता एदु एदु भट्टिणी। (इति परिक्रामतः)। (ज्ञातिकुलबहुमानः खल्वेष भर्त्र्याः। तदेत्वेतु भर्त्री।)

काञ्चनमाला–यह स्वामिनी का ज्ञाति–कुल के प्रति आदर भाव है। स्वामिनी चलिये, चलिये। (दोनों घूमती हैं)

वासवदत्ता–(उपसृत्य) जेदु अज्जउत्तो। (जयत्वार्यपुत्रः।)

वासवदत्ता–(समीप जाकर) आर्यपुत्र की जय हो।

राजा–देवि, बहुतरमनेन गर्जितम्। तदिहोपविश्यताम्। पश्यावस्तावत्।

राजा–देवी, इसने बड़ी आत्मश्लाघा की है। यहाँ बैठिये। अब देखें तो।

(वासवदत्तोपविशति) (वासवदत्ता बैठ जाती है)

राजा–भद्र, प्रस्तूयतामिन्द्रजालम।

राजा–भद्र, इन्द्रजाल प्रस्तुत कीजिये।

ऐन्द्रजालिक–जं देवो आणवेदि। (बहुविधं नाट्य कृत्वा पिच्छिका भ्रामयन्।)

ऐन्द्रजालिक–जो महाराज आज्ञा दें। (यह कहकर अनेक प्रकार से नाट्य करके मोरपंखी को घुमाते हुए)

हरिहरबम्हप्पमुहे देवे दंसेमि देवराअं च।
गअणम्मि सिद्धचारणसुरबहुसत्थं च णच्चन्तम् ॥10 ॥

मैं आकाश में हरि, हर तथा ब्रह्मा प्रमुख देवों को, देवों के राजा इन्द्र को और सिद्ध, चारण तथा सुराङ्गनाओं के समूह को नाचते हुए दिखलाऊँगा ॥10 ॥

ता पेक्खदु देवो। (यद्देव आज्ञापयति।)

हरिहरब्रह्मप्रमुखान्देवान्दर्शयामि देवराजं च।
गगने सिद्धचारणसुरवधूसार्थं च नृत्यन्तम्॥
तत्प्रेक्षतां देवः।)

(सर्वे सविस्मयं पश्यन्ति) (सब आश्चर्य से देखते हैं।)

राजा–(ऊर्ध्वं दृष्ट्वासनादवतरन्) आश्चर्यमाश्चर्यम्। देवि, पश्य,

राजा–(ऊपर देखकर आसन से उतरते हुए) आश्चर्य! आश्चर्य! देवी, देखो।

एष ब्रह्मा सरोजे रजनिकरकलाशेखरः शकरोऽयं
दोभिर्देत्यान्तकोऽसौ सधनुरसिगदाचक्रचिह्नै श्चतुर्भिः।
एषोऽप्यैरावतरथस्त्रिदशपतिरमी देवि देवास्तथान्ये
नृत्यन्ति व्योम्नि चैताश्चलचरणरणन्नूपुरा दिव्यनार्थः ॥11 ॥

हे देवि, आकाश में यह कमल में स्थित ब्रह्मा है, यह चन्द्रमा की कला रूपी शिरोभूषण वाला शिव है, यह धनुष, तलवार, गदा तथा चक्र के चिह्नों वाली चार भुजाओं से युक्त दैत्यों का नाशक (विष्णु) है और यह ऐरावत गज पर स्थित देवों का राजा इन्द्र है तथा ये दूसरे देवता है और यह चञ्चल चरणों में बजते हुए नूपुर वाली सुराङ्गनायें अप्सरायें नाच रही हैं ॥11 ॥

वासवदत्ता–अच्चरिअं अच्चरिअं। (आश्चर्यमाश्चर्यम्।)

वासवदत्ता–आश्चर्य है! आश्चर्य है!

विदूषक–(अपवार्य) हा दासीए पुत्त इन्दजालिअ, किं एदेहिं देवेहि अच्छराहिं च दंसिदाहिं। जइ दे इमिणा परितुट्ठेण कज्जं ता दंसेहि साअरिअं। (आः दास्या पुत्र, ऐन्द्रजालिक, किमेतैर्देवैरप्सरोभिश्च दर्शितैः। यदि तेऽनेन परितुष्टेन कार्यं तद्दर्शय सागरिकाम्।)

विदूषक–(एक ओर को होकर) अरे दासी के पुत्र ऐन्द्रजालिक, इन देवों और अप्सराओं के दिखाने से क्या होता है? यदि तुम्हें इसके सन्तुष्ट होने से कोई प्रयोजन है तो सागरिका को दिखलाओ।

वसुन्धरा–(राजानमुपसृत्य) जेदु जेदु भट्टा। अमज्चो जोअन्धराअणो विण्णवेदि–'एसो क्खु विक्मकमबाहुणो पहाणामच्चो वसुभूदी वब्भव्वेण कञ्चुइणा सह आअवो। ता अरिहदि देवो इमस्सिं एव्व सुन्दरमुहुत्तए पेक्खिदुं। अहंपि कज्जसेसं समापिअ आअदो ज्जेव्व त्ति। (जयतु जयतु भर्ता। अमात्यो यौगन्धरायणो विज्ञापयति–'एष खलु विक्रमबाहोः प्रधानामात्यो वसुभूतिर्वा भ्रव्येण कञ्चुकिना सहाऽऽगतः। तदहंति देव अस्मिन्नेव सुन्दरमुहूर्ते प्रेक्षितुम्। अहमपि कार्यशेषं समाप्याऽऽगत एव' इति।)

वसुन्धरा–(राजा के समीप जाकर) जय हो, स्वामी की जय हो। अमात्य यौगन्धरायण निवेदन करत हैं– 'यह विक्रमबाहु का प्रधान मन्त्री वसूभूति बाभ्राव्य नामक कञ्चुकी के साथ आया है। इसलिये महाराज इसे इसी सुन्दर मुहूर्त्त में दर्शन दें। मैं भी शेष कार्य को समाप्त करके आता ही हूँ।'

वासवदत्ता–अज्लउत्त, चिट्ठदु दाव इन्दजालं। माउलघरादो पहाणामच्चो वसुभूदी आअदो। त दाव पेक्खदु अज्जउत्तो। (आर्यपुत्र, तिष्ठतु तावदिन्द्रजालम्। मातुलगृहात् प्रधानामात्यो वसुभूतिरागतः। तं तावत्प्रेक्षतामार्यपुत्रः।)

वासवदत्ता—आर्यपुत्र, इन्द्रजाल को रहने दीजिये। मामा के घर से प्रधानमन्त्री वसुभूति आया है, आर्यपुत्र इसे दर्शन दें।

राजा—यथाह देवी। (ऐन्द्रजालिकं प्रति) भद्र, विश्रम्यतामिदानीम्।

राजा—जैसा देवी कहें। (ऐन्द्रजालिक को लक्ष्य करके) भद्र, अब आराम करो।

इन्द्रजालिक—जं देवो आणवेदि। (पुन: पिच्छिका भ्रामयति)। (निष्क्रामन्) एक्को उण मह लेलओ अवस्सं देवेण पेक्खिदव्वो। (यद्धर्ताऽऽज्ञापयति। एको पुनर्मम खेलोऽवश्यं देवेन प्रेक्षितव्य:।)

ऐन्द्रजालिक—जो देव आज्ञा देवें। (फिर मोरपंखी को घुमाता है)। (बाहर जाते हुए) मेरा एक खेल महाराज अवश्य देखें।

राजा—भद्र, द्रक्ष्याम:।

राजा—भद्र, देखेंगे।

वासवदत्ता—कञ्चनमाले, गच्छ तुमं। देहि से पारितोसिअं। (काञ्चनमाले, गच्छ त्वम्। देह्यस्य पारितोषिकम्।)

वासवदत्ता—काञ्चनमाला, तू जा। इसे इनाम दे।

काञ्चनमाला—जं देवी आणवेदि। (ऐन्द्रजालिकेन सह निष्क्रान्ता)। (यद् देव्याज्ञापयति)

काञ्चनमाला—जो देवी आज्ञा दें। (ऐन्द्रजालिक के साथ बाहर जाती है)।

राजा—वसन्तक, प्रत्युद् गम्य वसुभूति:।

राजा—वसन्तक, सत्कार (अगवानी) करके वस‌ुभूति को अन्दर लिया लाओ।

विदूषक:—जं देवो आणवेदि। (इति वसुन्धरया सह निष्क्रान्त:)। (यद् देव आज्ञापयति।)

विदूषक—जो महाराज आज्ञा दें। (वसुन्धरा के साथ बाहर जाता है)।

(तत: प्रविशति वसन्तकेनानुगम्यमानो वसुभूतिर्बाभ्रव्यश्च) (तत्पश्चात् वसन्तक के साथ वसुभूति और बाभ्रव्य प्रवेश करते हैं)

वसुभूति:—(समन्तादवलोक्य) अहो वत्सेश्वरस्यानुभाव:। इह हि–

वसूभूति—(चारों ओर देखकर) वत्सराज का ऐश्वर्य आश्चर्यकारी है। क्योंकि यहाँ–

आक्षिप्तो जयकुञ्जरेण तुरगान्निर्वर्णयन्वल्लभान्संगीत-
ध्वनिना हृत: क्षितिभृतां गोष्ठीषु तिष्ठन्क्षणम्।
सद्यो विस्मृतसिंहलेन्द्रविभव: कक्षाप्रदेशेऽप्यहो
द्वा:स्थेनैव कुतूहलेन महता ग्राम्यो यथाऽहं कृत: ॥12 ॥

(राजा के) प्रिय अश्वों को देखता हुआ ही मैं विजय लाभ कराने वाले हाथी से आकृष्ट हो गया, राजाओं की गोष्ठियों में क्षणभर ठहरता हुआ ही मैं संगीत की ध्वनि से लुभा लिया गया। प्राङ्गण स्थल में ही तुरन्त सिंहल के अधिपति के ऐश्वर्य को भूला हुआ मैं द्वार पर स्थित महान् आश्चर्य से ही ग्रामीण के समान कर दिया गया ॥12 ॥

बाभ्रव्य:—वसुभूते, अद्य खलु चिरात्स्वामिनं द्रक्ष्यामीति यत्सत्यमानन्दातिशयेन किमप्यव-स्थान्तरमनुभवामि। कुत:।

बाभ्रव्य–वसुभूति, आज चिरकाल पश्चात् स्वामी के दर्शन करूँगा, इससे सचमुच आनन्द के अतिरेक के कारण कुछ दूसरी ही दशा का अनुभव कर रहा हूँ। क्योंकि–

विवृद्धिं कम्पस्य प्रथयतितरां साध्वसवशा-
दविस्पष्टां दृष्टिं तिरयतितरां बाष्पपटलैः।
स्खलद्वर्णां वाणीं जडयतितरां गद्गदतया
जरायाः साहाय्यं मम हि परितोषोऽद्य कुरुते॥13॥

आज मेरा हर्ष वृद्धावस्था की सहायता ही कर रहा है? (जैसे कि)–(हर्ष) भय के कारण गात्रों में कम्पन की वृद्धि को और बढ़ा रहा है, आँसुओं के समूहों में वृद्धावस्था से धुंधली दृष्टि को और अधिक ढक रहा है और गले के भर आने से टूटते हुए अक्षरों वाली वाणी को और अधिक जड़ बना रहा है॥13॥

विदूषकः–(अग्रे भूत्वा) एदु एदु अमच्चो। (एत्वेत्वमात्यः।)

विदूषक–(आगे जाकर) अमात्य चलिये, चलिये।

वसुभूतिः–(विदूषकस्य कण्ठे, रत्नमालां दृष्ट्वाऽपवार्यं) बाभ्रव्य, जाने सैवेयं रत्नमाला या देवेन राजपुत्र्यै प्रस्थानसमये दत्तेति।

वसुभूति–(विदूषक के गले में माला देखकर, एक ओर को होकर) बाभ्रव्य, मैं समझता हूँ कि यह रत्नमाला वही है जो प्रस्थान मे समय महाराज ने राजकुमारी को दी थी।

ब्राभ्रव्य–अमात्य, अस्ति सादृश्यम्। तत्किं वसन्तकं पृच्छामि प्राप्तिमस्याः।

बाभ्रव्य–अमात्य, समानता तो है। तो क्या इसकी प्राप्ति के विषय में वसन्तक से पूछूँ?

वसुभूति–बाभ्रव्य, मा मैवम्। महति राजकुले रत्नबाहुल्यान्न दुर्लभो भूषणानां संवादः। (इति परिक्रामति)

वसुभूति–बाभ्रव्य नहीं ऐसा न करो। बड़े राजकुल में रत्नों की बहुलता होने के कारण भूषणों में समानता मिलना कठिन नहीं है। (घूमता है)।

विदूषकः–भो, एसो महाराओ। ता उवसप्पदु अमच्चो। (भोः, एष महाराजः। तदुपसर्पत्वमात्यः।)

विदूषक–यह महाराज बैठे हैं। इसलिये अमात्य समीप जायें।

वसुभूति–(उपसृत्य) जयतु देवः।

वसुभूति–(समीप जाकर) महाराज की जय हो।

राजा–(उत्थाय) आर्य, अभिवादये।

राजा–(उठकर) आर्य, मैं अभिवादन करता हूँ।

वसुभूतिः–आयुष्मान् भव।

वसुभूति–दीर्घायु बनो।

राजा–आसनमासनमार्याय।

राजा–आसन, आर्य के लिये आसन लाओ।

विदूषकः–एदमासणं। उपविसदु अमच्चो। (इदमासनम्। उपविशत्वमात्यः।)

विदूषक–यह आसन है। अमात्य बैठिये।

(वसुभूतिरूपविशति) (वसुभूति बैठता है)

बाभ्रव्य–देव, बाभ्रव्यः प्रणमति।

बाभ्रव्य–महाराज, बाभ्रव्य प्रणाम करता है।

राजा–(पृष्ठे हस्तं दत्त्वा) बाभ्रव्य, इत आस्यताम्।

राजा–(पीठ पर हाथ रखकर) बाभ्रव्य इधर बैठो। (बाभ्रव्य बैठता है)

विदूषकः–अमच्च, एसा देवी वासवदत्ता पणमदि। (अमात्य, एषा देवी वासवदत्ता प्रणमति।)

विदूषक–अमात्य, यह देवी वासवदत्ता प्रणाम करती है।

वासवदत्ता–अज्ज, पणमासि। (आर्य, प्रणमामि।)

वासवदत्ता–आर्य, मैं प्रणाम करती हूँ।

वसुभूति–आयुष्मति, वत्सराज के जैसा पुत्र प्राप्त करो। (सब बैठ जाते हैं)

वसुसूभूति–आयुष्मति, वत्सराजसदृशं पुत्रमाप्नुहि।

वसुभूति–आयुष्मती, वत्सराज के जैसा पुत्र प्राप्त करो।

(सर्व उपविशन्ति) (सब बैठ जाते हैं)

राजा–आर्य वसुभूते, अपि कुशल तत्रभवतः सिहलेश्वरस्य।

राजा–आर्य वसुभूति, आदरणीय सिंहलाधिपति का कुशल तो है?

वसु.–(ऊर्ध्वमवलोक्य निःश्वस्य च) देवः, न जाने कि विज्ञापयामि। (अधोमुखतिष्ठति)।

वसुभूति–(ऊपर को देखकर और लम्बा साँस छोड़कर) देव, समझ में नहीं आ रहा कि क्या कहूँ? (नीचे की ओर मुख झुकाकर बैठता है)।

वासव.–(सविषादमात्गतम्) हद्धी हद्धी। किं दाणिं वसुभदी कथइस्सदि। (हा धिक्, हा धिक्। किमिदानीं वसुभूतिः कथयिष्यति।)

वासव.–(विषादपूर्वक स्वगत) हाय! हाय! (न जाने) अब वसुभूति क्या कहेगा?

राजा–कथय किमेतत्। आर्यं, आकुल इव मेऽन्तरात्मा।

राजा–कहिये, यह क्या? आर्य, मेरा हृदय व्याकुल-सा हो रहा है।

बाभ्र.– (अपवायं) अमात्य चिरमपि स्थित्वा कथनीयम्। तदिदानीमेव कथ्यताम्।

बाभ्र.–(एक ओर को होकर) अमात्य, विलम्ब लगाकर भी कहना ही पड़ेगा, इसलिए अभी कह डालिये।

वसु.–(सास्रम्) देव, न शक्यं निवेदयितुम्। तथाप्येष कथयामि मन्दभाग्यः। यासौ तत्र भवता सिंहलेश्वरेण स्वदुहिता रत्नावली नामाऽऽयुष्मतीं वासवदत्तां दग्धामुपश्रुत्य देवाय पूर्वं प्राथिता सती दत्ता–

वसुभूति–(आँसुओं के साथ) देव, कहा तो नहीं जा सकता, फिर भी यह अभागा मै। कहता हूँ। सिंहल के अधिपति ने जो वह, पहले माँगी गई रत्नावली नाम की अपनी पुत्री आयुष्मती वासवदत्ता को जल गई सुनकर महाराज के लिये दी थी...)

राजा–(अपवार्य) देवि, किमिदमलीकमेव त्वन्मातुलामात्यः कथयति।

राजा–(एक ओर को) देवी, तुम्हारे मामा का मन्त्री यह क्या झूठी बात कह रहा है?

वासवदत्ता–(स्मित्वा) अज्जउत्त, ण जाणीअदि केघा अलिअं मन्तेदित्ति। (आर्यपुत्र, न ज्ञायते कोऽलीकं मन्त्रयत इति।)

वासवदत्ता–(मुस्करा कर) आर्यपुत्र, पता नहीं कि झूठ कौन बोल रहा है?

विदूषक–तदो ताए किं संवुत्तं। (ततस्तस्याः किं संवृत्तम्)

विदूषक–तब उसका क्या हुआ?

वसु.–सा च युष्मदन्तिकमानीयमाना समुद्रे यानभङ्गान्निमग्ना। (इति रुदन्नधोमुखस्तिष्ठति)।

वसुभूति–आपके समीप लाई जाती हुई वह जहाज के टॅट जाने से मसुद्र में डूब गई। (यह कहकर रोते हुए मुख नीचे लटका लेता है)।

वासवदत्ता–(सास्रम्) हा हदम्हि मन्दभाइणी। हा बहिणि रअणावलि, कहि दाणिं सि। देहि मे पडिवअणं। हा हतास्मि मन्दभागिनी। हा भागिनिके रत्नावलि, क्वेदानीमसि। देहि मे प्रतिवचनम्।)

वासवदत्ता–हाय! मैं आभागिन मारी गई। हाय, बहन रत्नावली, अब तू कहाँ है? मुझे उत्तर तो दे।

राजा–समाश्वसिहि समाश्वसिहि। दुरवगाहा गतिर्दैवस्य। यानभङ्गपतितोत्थितौ नन्वेतावेव ते निदर्शनम्। (इति वसुभूतिबाभ्रव्यौ दर्शयति)।

राजा–देवी, धैर्य रखो, धैर्य रखो। दैव गति जानी नहीं जा सकती। जहाज टूटने से समुद्र में गिरकर उबरे हुए ये दोनों ही, देखो इसके उदाहरण हैं। (यह कहकर वसुभूति और बाभ्रव्य को दिखलाता है)।

वासवदत्ता–अज्जउत्त, जुज्जदि एदं। परं कुदो मम एत्तिअं भाअधेअं। (आर्यपुत्र, युज्यत एतत्। परं कुतो ममैतावद्भागधेयम्।)

वासवदत्ता–आर्यपुत्र यह ठीक है। परन्तु मेरा इतना भाग्य कहाँ है?

(नेपथ्ये महान्कलकलः) (नेपथ्य में जोर से कलकल ध्वनि होती है)

हर्म्याणां हेमशृङ्गश्रियमिव निचयैरर्चिषामादधानः
सान्द्रोद्यानद्रुमाग्रग्लपनपिशुनितात्यन्ततीव्राभितापः ।
कुर्वन्क्रीडामहीध्रं सजलजलधरश्यामलं धूमपातै-
रेष प्लेषार्तयोषिज्जन इह सहसैवोत्थितोऽन्तःपुरेऽग्निः ॥14 ॥

ज्वालाओं के समूह से भवनों की सुवर्ण के शिखरों की-सी शोभा करती हुई, घने उद्यान के वृक्षों की चोटियों को मुरझा देने से (अपने) अत्यन्त उग्र ताप को सूचित करने वाली, धूम-समूह से क्रीडा-पर्वत को जल से भरे मेघ के समान श्यामल करती हुई, यह आग जिसके दाह से स्त्रियाँ पीड़ित हो रही हैं। यहाँ अन्तःपुर में अकस्मात् ही भड़क उठी हैं॥14॥

अपि च

देवीदाहप्रवादोऽसौ योऽभूल्लावाणके पुरा।
करिष्यन्निव तं सत्यमयमग्निः समुत्थितः ॥15 ॥

पहले लावाणक (नामक गाँव) में जो वह देवी वासवदत्ता के जल जाने की अफवाह हो गई थी, मानो उसे सत्य करने वाली यह अग्नि उठी है॥15॥

(सर्वे संभ्रान्ताः पश्यन्ति) (सब घबराये हुए से देखते हैं)

राजा–(ससंभ्रममुत्थाय) कथमन्तःपुरेऽग्निः। कष्टं देवी वासवदत्ता दग्धा। हा प्रिये वासवदत्ते।

राजा–(घबराहट के साथ उठकर) अन्तःपुर अन्तःपुर में आग कैसे! अनर्थ, देवी, वासवदत्ता जल गई। हाय, प्रिय वासवदत्ता।

वासव.–अज्जउत्त, परित्ताहि परित्ताहि।

वासव.–आर्यपुत्र, बचाओ, बचाओ।

(आर्यपुत्र, परित्रायस्य परित्रायस्व।)

राजा–अये, कथमतिसंभ्रमादिहस्थापि देवी नोपलक्षिता। देवि, समाश्वसिहि समाश्वसिहि।

राजा–अरे! कैसे! अधिक घबराहट के कारण यहाँ बैठी हुई भी देवी ही देखी। देवी, धैर्य रखो, धैर्य रखो।

वासवदत्ता–अज्जउत्त, मए अत्तणो किदे ण भणिदं। एसा क्खु मए णिग्घिणाए इध णिअडेण संजमिदा सालरिआ विवज्जेदि। ता तं परित्ताअदु अज्जउत्तो। (आर्यपुत्र, मयात्मनः कृते न भणितम्। एषा खलु मया निर्घृणयेह निगडेन संयमिता सागरिका विपद्यते। तत्तां परित्रायतामार्यपुत्रः।)

वासवदत्ता–आर्यपुत्र, मैंने अपने लिये नहीं कहा। मुझ निर्दय द्वारा जंजीर बांधी गई यह सागरिका इस आग में मर रही है। इसलिये आर्यपुत्र उसकी रक्षा करें।

राजा–कथं देवि, सागरिका विपद्यते। एष गच्छामि।

राजा–देवी, क्या सागरिका मर रही है? मैं यह जाता हूँ।

वसुभूति–देवि, किमिदमकारणमेव पतङ्गवृत्तिः क्रियते।

वसुभूति–महाराज, क्यों व्यर्थ पतंग का आचरण करते हैं?

बाभ्रव्य–देव, युक्तमाह वसुभूतिः।

बाभ्रव्य–महाराज, वसुभूति ने ठीक ही कहा है।

विदूषक–(राजानमुत्तरीये गृहीत्वा) बअस्स, मा क्खु एव्वं साहसं करेहि। (वयस्य, मा खल्वेवं साहसं कुरु।)

विदूषक–(राजा की चादर पकड़कर) मित्र, ऐसा साहस न करो।

राजा–(उत्तरीयमुत्सृज्य) धिङ् मूर्ख, सागरिका विपद्यते। किमद्यापि प्राणा धार्यन्ते। (ज्वलनप्रवेशं नाटयित्वा धूमाभिभवं नाटयति)।

राजा–(चादर छोड़कर) छिः मूर्ख, सागरिका मर रही है। क्या अब भी धारण किये जायें। (यह कहकर अग्नि में घुसने का नाट्य करके धुएँ से कष्ट का अभिनय करते हुए)।

विरम विरम वह्न मुञ्च धूमानुबन्धं
प्रकटयसि किमुच्चैरर्चिषां चक्रवालम्।
विरहहुतभुजाऽहं यो न दग्धः प्रियायाः
प्रलयदहनभासा तस्य किं त्वं करोषि॥16॥

हे अग्नि, शान्त हो जाओ, शान्त हो जाओ, धूम की शृङ्खला को छोड़ दो। तुम ऊँची ज्वालाओं के समूह को क्यों प्रकट कर रही हो? जिस मुझे प्रलय काल की अग्नि के समान तेज वाली, प्रिया के विरह की अग्नि ने नहीं जलाया, उसका तुम क्या कर सकोगे॥16॥

वासवदत्ता–कधं मम दुःखभाइणीए वअणादो एव्वं अज्झवसिदं अज्जउत्तेण। ता अहंपि अज्जउत्तं एव्व अणुगमिस्सं। (कथं मम दुःखभागिन्या वचनादेवमध्यवसितमार्यपुत्रेण। तदहमयार्यपुत्रमेवानुगमिष्ये।)

वासवदत्ता–क्यों मुझ दुखिया के कहने से आर्यपुत्र ने ऐसा स्वीकार किया? तब मैं भी आर्यपुत्र का ही अनुगमन करूँगी।

विदूषक–(परिक्रामन्नग्रतो भूत्वा) भोदि, अहंवि दे पधोवदेसको होमि (भवति, अहमपि ते पथ्युपदेशको भवामि।)

विदूषक–(घूमते हुये आगे होकर) आदरणीय, मैं भी तुम्हारा पथ-प्रदर्शक बनता हूँ।

वसु.–कथं प्रविष्ट एव ज्वलनं वत्सराजः। तन्ममापि दृष्टराजपुत्रीविपत्तेर्युक्तमिहैवात्मानमाहुतिकर्तुम्।

वसु.–अरे! वत्सराज अग्नि में प्रविष्ट हो गये। तब मुझे भी, जिसने राजपुत्री की मृत्यु देख ली है, इस आग में अपनी आहूति दे देनी उचित है।

बाभ्रव्य–(सास्रम्) हा दैव, किमिदमकारणमेव भरतकुलं संशयतुलामारो पितम्। अथवा किं प्रलापेन। अहमपि भक्तिसदृशमाचरामि।

बाभ्रव्य–हाय विधाता! क्यों यह निष्कारण ही भरतकुल को संशय की तराजू पर चढ़ा दिया? या रोने-धोने से क्या लाभ? मैं भी भक्ति के अनुरूप आचरण करता हूँ।

(इति सर्वेऽग्निप्रवेशं नाट्यन्ति) (सब अग्नि में घुसने का नाट्य करते हैं)

(ततः प्रविशति निगडसंयता सागरिका)

(तत्पश्चात् शृङ्खला में बंधी सागरिका प्रविष्ट होती है)

सागरिका–(दिशोऽवलोक्य) हद्धी समन्तदो प्पज्जलिदो हुदवहो। (विचिन्त्य सपरितोषम्) अज्ज हुदवहो दिट्ठआ करिस्सदि मे दुक्खावसाणं। (हा धिक् समन्ततः प्रज्वलितो हुतवहः। अद्य हुतवहो दिष्ट्या करिष्यति मे दुःखावसानम्।)

सागरिका–(चारों ओर देखकर) हाय, धिक्कार! चारों ओर अग्नि जल रही है। (सोचकर सन्तोष के साथ) आज सौभाग्य से अग्नि मेरे दुःख का अन्त कर देगी।

राजा–अये, इयमासन्नहुतवहा वर्तते सागरिका। तत्त्वरितमेनां संभावयामि। (त्वरितमुपसृत्य) अयि प्रिये, किमद्यापि संभ्रमे स्वस्थतयाऽवस्थीयते।

राजा–अरे! यह सागरिका है, जिसके समीप आग पहुँच गई है। तब जल्दी से इस पर ध्यान दूं (जल्दी से पास जाकर) अरी प्यारी! कैसे अब उपद्रव में भी शान्त खड़ी हो?

साग.–(राजानं दृष्टवात्मगतम्) कधं अज्जउत्तो। ता एवं पेक्खिअ पुणोवि मे जीविदासा संवुत्ता। (प्रकाशम्) भट्टा, परित्तघाहि परित्ताहि। (कथमार्यपुत्रः। तदेनं प्रेक्ष्य पुनरपि में जीविताशा संवृत्ता। भर्तः, परित्रायस्व परित्रायस्व।)

साग.–(राजा को देखकर, मन ही मन) क्या आर्यपुत्र? इन्हें देखकर तो फिर मुझे जीने की इच्छा हो आई है। (प्रकट में) स्वामी बचाइये बचाइये।

राजा–भीरु, अलं भयेन।

राजा–भीरु, भय न करो।

मुहूर्तमपि सह्यतां बहुल एष धूमोद्गमो (अग्रतोऽवलोक्य)
हहा धिगिदमंशुकं ज्वलति ते स्तनात्प्रच्युतम्। (विलोक्य)
मुहुः स्खलसि किं कथं निगडसंयतासि द्रुतं (परिकरं बद्ध्वा)
नयामि भवतीमितः प्रियतमेऽवलम्बस्व माम्॥17॥

इस घने धुएं के गुब्बार को क्षण भर सह लो। आगे देखकर हाय, यह स्तन से गिरा हुआ तुम्हारा वस्त्र जल रहा है। देखकर बार-बार कैसे गिर रही हो? अरे! शृङ्खला में बंधी हुई हो। (कमर कसकर) प्रियतमा, मेरा सहारा ले लो, मैं आपको यहाँ से (उठाकर) लिये जाता हूँ॥17॥

(कण्ठे गृहीत्वा निमीलिताक्षः स्पर्शसुखं नाटयन्।) अहो क्षणादपगतोऽयं मे संतापः। प्रिये, समाश्वसिहि समाश्वसिहि।

(गले लगकर आँखें बन्ध किये स्पर्श-सुख का नाट्य करते हुए) अहो, मेरा यह ताप क्षण भर में चला गया। प्रिय, धैर्य रखो, रखो।

व्यक्तं लग्नोऽपि भवतीं न दहत्येव पावकः।
यतः संतापमेवायं स्पर्शस्ते हरति प्रिये॥18॥

प्रिय, तुमसे स्पष्ट रूप से लिपटा हुआ भी पावक तुम्हें नहीं जला रहा है, क्योंकि यह तुम्हारा स्पर्श ताप को ही हर लेता है॥18॥

(अक्षिणी समुन्मील्य दिशो निरीक्ष्य सागरिकां च मुक्त्वा) अहो महदाश्चर्यम्।

(आँखें खोलकर चारों ओर देखकर और सागरिका को छोड़कर) ओह! महान् आश्चर्य है।

क्वासौ गतो हुतवहस्तदवस्थमेतद्

अन्तःपुरं (वासवदत्तां दृष्ट्वा) कथमवन्तिनृपात्मजेयम्।

वह आग कहाँ चलीगई। यह अन्तःपुर उसी दशा वाला है। (वासवदत्ता को देखकर) अरे! यह अवन्ति के राजा की पुत्री वासवदत्ता रही।

वासव.–(राज्ञः शरीरं परामृशन्ती सहर्षम्) दिट्ठिआ। अक्खदसरीरो अज्जउत्तो। (दिष्ट्याऽक्षतशरीर आर्यपुत्रः।)

वासव.–(राजा ने शरीर को छूकर हर्ष के साथ) सौभाग्य से आर्यपुत्र का शरीर घायल न हुआ।

राजा–बाभ्रव्य एष–

राजा–यह बाभ्रव्य है।

बाभ्रव्यः–देव, इदानीं प्रत्युज्जीविताः स्मः।

बाभ्रव्य–महाराज, अब हम पुनः जीवित हो गय हैं।

राजा–वसुभूतिरयं–

राजा–यह वसुभूति रहा!

वसु.–विजयतां महाराजः।

वसुभूति–महाराज की जय हो।

राजा–वयस्यः–

राजा–(यह) वयस्य रहा!

विदूषक–जेदु जेदु भवं। (जयतु जयतु भवान्)

विदूषक–जय हो, आपकी जय हो।

राजा–

स्वप्नेमतिर्भ्रमति किं न्विदमिन्द्रजालम्॥19॥

राजा–बुद्धि स्वप्न में घूम रही। अथवा कय यह इन्द्रजाल है॥19॥

विदूषकः–भो मा संदेहं करेहि। इन्दजालं ज्जेव्व एदं। भणिदं तेण दासीए पुत्तेण इन्दिजालिएण्ण जधा अवस्सं ज्जेव मम एक्को खेलणओ देवेण पेक्खिदव्वोत्ति। ता तं ज्जेव एदं। (भो मा संदेहं कुरु।

इन्द्रजालमेवेदम्। भणितं तेन दास्याः पुत्रणैन्द्रजालिकेन यथा अवश्यमेव ममैकः खेलनको देवेन प्रेक्षितव्य इति। तत्तदेवैतत्।

विदूषक—अरे, सन्देह न करो यह इन्द्रजाल ही है। उस दासी के पुत्र ऐन्द्रजालिक ने कहा था कि देव मेरा एक खेल अवश्य देखें। यह वही है।

राजा—देवि, इयं त्वद्वचनादस्माभिरिहाऽऽनीता सागरिका।

राजा—देवी, यह तुम्हारे कहने से हम सागरिका को यहाँ ले आये।

वासवदत्ता—(सस्मितम्) अज्जउत्त, जाणिदं मए। (आर्यपुत्र, ज्ञातं मया।)

वासवदत्ता—(मुस्कराहट के साथ) आर्यपुत्र, मैंने जान लिया।

वसुभूति—(सागरिकां दृष्टवापवार्य) बाभ्रव्य, सदृशीयं राजपुत्र्या।

वसभूति—(सागरिका को देखकर, एक ओर को) बाभ्राव्य, यह तो राजपुत्री से मिलती है।

बाभ्रव्य—अमात्य, ममाप्येतदेव मनसि वर्तते।

बाभ्रव्य—अमात्य, मेरे मन में भी यही है।

वसुभूति—(राजानमुद्दिश्य) देव, कुत इयं कन्यका।

वसुभूति—(राजा को लक्ष्य करके) देव, यह कन्या कहाँ से पाई है?

राजा—देवी जानाति।

राजा—यह देवी जानती है।

वसुभूति—देवि, कुतः पुनरियं कन्यका।

वसुभूति—देवी, यह कहाँ से आई है?

वासवदत्ता—अमच्च, एसा क्खु साअरादो पाविदेत्ति भणिअ अमच्चजोअन्धराअणेण मम हत्थे णिक्खित्ता। अदो ज्जेव्व साअरिआत्ति सद्दावीअदि। (अमात्य, एषा खलु सागरात्प्राप्तेति भणित्वाऽमात्य-यौगन्धरायणेन मम हस्ते निक्षिप्ता। अत एव सागरिकेति शब्दायते।)

वासव.—अमात्य, मन्त्री यौगन्धरायण ने यह कहकर–'यह सागर से मिली है'–मेरे हाथ में धरोहर रखी थी। इसीलिये इसे 'सागरिका' कहकर पुकारा जाता है।

राजा—(स्वागतम्) यौगन्धरायणेन न्यस्ता! कथमसौ मामनिवेद्य किञ्चित्करिष्यति।

राजा—(मन में) यौगन्धरायण ने धरोहर रखी! कैसे यह मुझ से बिना बतलाये कुछ करेगा?

वसुभूति—(अपवार्य) बाभ्रव्य, यथा सुदृशी वसन्तकस्य कण्ठे रत्नमाला, अस्याश्च सागरात्प्राप्तिः, तथा व्यक्तं सिंहलेश्वरस्य दुहिता रत्नावलीयम्। (प्रकाशम्) आयुष्मति, न खलु राजपुत्री रत्नावली त्वमीदृशीमवस्थामुपगता।

वसुभूति—(एक ओर को) बाभ्रव्य, क्योंकि वसन्तक के गले में पड़ी रत्नमाला बिल्कुल मिलती-जुलती है और इस कन्या की सागर से प्राप्ति हुई, इससे स्पष्ट है कि यह सिंहल के अधिपति की पुत्री रत्नावली है। (प्रकट में) आयुष्मती, कहीं तुम राजकुमारी रत्नावली ही तो इस अवस्था को प्राप्त नहीं हो गई?

सागरिका—(वसूभूति दृष्ट्वा सास्रम्) कधं अमच्चो वसुभूदी। (कथमभातयो वसुभूतिः।)

सागरिका—(वसुभूति को देखकर आँसुओं के साथ) क्या अमात्य वसुभूति?

वसुभूति—(सास्रम्) हा हतोऽस्मि मन्दभाग्यः। (इति भूमौ पतति)।

वसुभूति–(आँसू भरकर) हाय, मैं ही अधम भाग्यहीन हूँ। (पृथ्वी पर गिरता है)।

सागरिका–हा ताद, हा अम्ब, कहिं सि। देहि मे पडिवअणं। (इति वसुभूतेरुपरि पतन्ती मोहमुपगता)। (हा तात, हा अम्ब, कुत्रासि। देहि मे प्रतिवचनम्।)

सागरिका–हाय तात, हाय अम्मा, कहाँ हो? मुझे प्रत्युत्तर दो। (यह कहकर वसुभूति के ऊपर पड़ती हुई मूर्च्छित हो जाती है)।

वासव.–(ससंभ्रमम्) अज्ज कञ्चुइ, इअं सा मम बहिणी रअणावली। (आर्य कञ्चुकिन्, इयं सा मम भगिनी रत्नावली।)

वासवदत्ता–(घबराहट के साथ) आर्य कञ्चुकी, यह वह मेरी बहिन रत्नावली है?

बाभ्रव्य–देवि, इयमेव सा।

बाभ्रव्य–देवी, वह यही है।

वासवदत्ता–(रत्नावलीमालिङ्ग्य) बहिणि, समस्सस समस्सस। (भगिनि, समाश्वसिहि, समाश्वसिहि।)

वासवदत्ता–(रत्नावली का आलिंगन करके) बहिन, धैर्य रखो, धैर्य रखो।

राजा–कथमुदात्तवंशस्य सिंहलेश्जवरस्य विक्रमबाहोरात्मजेयम्।

राजा–अरे कैसे! यह उच्चकुलीन, सिंहल के अधिपति, विक्रमबाहु की पुत्री है।

विदूषक–(रत्नमालां स्पृशन् स्वगतम्) पढमं ज्जेव्व मए जाणिदं ण क्खु सामण्णजणस्स ईदिसो परिच्छदो होदित्ति। (प्रथममेव मया ज्ञातं न खलु सामान्यजनस्येदृशः परिच्छदो भवतीति।)

विदूषक–(रत्नमाला को छूते हुये मन में) मैंने पहले ही जान लिया था कि साधारण जन का आभूषण ऐसा नहीं होता है।

वसुभूति–(उत्थाय) आयुष्मति, समाश्वसिहि समाश्वसिहि। नन्वियं ज्यायसी ते भगिनी दुःखमास्ते। तत्परिष्वजस्वेनाम्।

वसुभूति–(उठकर) आयुष्मती, धैर्य रखो, धैर्य रखो। यह तुम्हारी बड़ी बहन दुःखी हो रही है। इसका आलिङ्गन तो करो।

सागरिका–(समाश्वस्य वासवदत्तां दृष्ट्वा स्वगतम्) किदावराहा क्खु अहं देदीए ण सक्णोमि मुहं वंसिदुं। (इत्यधोमुखी तिष्ठति) (कृतायराधा खल्वहं देव्या न शक्नोमि मुखं दर्शयितुम्।)

सागरिका–(संभल कर, वासवदत्ता को देखकर मन में) मैंने देवी का अपराध किया है, इसलिये मैं मुंह नहीं दिखा सकती हूँ। (मुख नीचा करके रहती है)।

वासवदत्ता–(सास्त्रं बाहू प्रसार्य) एहि एहि अदिणिट्ठुरे, दाणिं पि दांव सिणेहं दंसेहि। (इति कण्ठे गृह्णाति)। (एह्ये ह्यतिनिष्ठुरे, इदानीमपि तावत् स्नेहं दर्शय)।

वासवदत्ता–(आँसू भरकर दोनों भुजायें फैलाकर) आ, आ। अतिनिष्ठुर, अब तो स्नेह दिखला दे। (गले लगती है)।

(रत्नावली स्खलितं नाट्यति = रत्नावली लड़खड़ाने का नाट्य करती है)

वासवदत्ता–(अपवार्य) अज्जउत्त, लज्जेमि अहं इमिणा अत्तणो णिसंसत्तेण। ता अवणेहि से बन्धणं। (आर्यपुत्र, लज्जेऽहमेतेनात्मनो नृशंसत्वेन। तदपनयास्यां बन्धनम्।)

वासवदत्ता–(एक ओर को होकर) आर्यपुत्र, मैं अपनी इस क्रूरता से लज्जित हूँ। इसलिये इसका बन्धन हटा दो।

राजा–(सपरितोषम्) यथाऽऽह देवी। (इति तथा करोति)।

राजा–(सन्तोष के साथ) जैसा देवी कहें। (वैसा करता है)।

वासवदत्ता–अज्जउत्त, अमच्चजोअन्धराअणेन एत्तिअं क्खु कालं दुज्जणीकिदम्हि। जेण जाणन्तेण वि ण मे णिवेदिदं। (आर्यपुत्र, अमात्ययौगन्धरायणेनैतावन्तं खलु कालं दुर्जनीकृतास्मि। येन जानतापि न में निवेदितम्।)

वासवदत्ता–आर्यपुत्र, मन्त्री यौगन्धरायण ने मुझे इतने समय तक दुर्जन बनाये रखा, जिसने जानते हुए भी न बतलाया।

(ततः प्रविशति यौगन्धरायणः = तब यौगन्धरायण प्रवेश करता है)

यौगन्धरायणः–

देव्या मद्वचनाद्यदाऽभ्युपगतः पत्युर्वियोगस्तदा
सा देवस्य कलत्रसंघटनया दुःखं मया स्थापिता।
तस्यः प्रीतिमयं करिष्यति जगत्स्वामित्वलाभः प्रभोः
सत्यं दर्शयितुं तथापि वदनं शक्नोमि नो लज्जया ॥20 ॥

यौगन्धरायण–मेरे कहने से जब देवी वासवदत्ता ने पति का वियोग स्वीकार किया, तब मैंने देव का दूसरी स्त्री से सम्बन्ध करके उसे देवी को दुःख ही दिया। यह सच है कि प्रभु का यह जगत् का स्वामी होने का लाभ उसे देवी को सन्तोष देगा, फिर भी लज्जा के कारण मैं अपना मुख नहीं दिखा सकूँगा ॥20 ॥

(क्षणं विचिन्त्य) अथवा किं क्रियते? ईदृशमत्यन्तमाननीयेष्वपि निरनुरोधवृत्ति स्वामिभक्तिवतत्। (निरूप्य) अयं देवः। यावदुपसर्पामि। (उपसृत्य) जयतु जयतु देवः। देव, क्षम्यतां यन्मयाऽनिवेद्य कृतम्।

(क्षण भर सोचकर) अथवा क्या किया जाय? यह स्वामिभक्ति का व्रत ही ऐसा है जिसमें अत्यन्त माननीय जनों के प्रति भी रूखा व्यवहार करना पड़ता है। देखकर यह महाराज हैं तो अब समीप जाऊँ। (समीप जाकर) जय हो, महाराज की जय हो। महाराज, जो मैंने देव से बिना निवेदन किये कर दिया है, उसे क्षमा करें।

राजा–यौगन्धरायण, कथय किमनिवेद्य कृतम्?

राजा–यौगन्धरायण, कहो क्या बिना बतलाये कर दिया है?

यौगन्धरायण–करोत्वासनपरिग्रहं देवः। सर्वं विज्ञापयामि।

यौगन्धरायण–देव आसन ग्रहण करें। मैं सब बतलाता हूँ।

(सर्वे यथास्थानमुपविशन्ति) (सब यथायोग्य स्थान पर बैठते हैं)

यौगन्धरायण–(कृताञ्जलिः) देव श्रूयताम्। येयं सिंहलेश्वरस्य दुहिता सा सिद्धेनाऽऽदिष्टा यथा–योऽस्याः पाणिं ग्रहीष्यति स सार्वभौमो राजा भविष्यति। ततस्तत्प्रत्ययादस्माभिः स्वामिनोऽर्थे बहुशः प्रार्थ्यमानेनापि सिंहलेश्वरेण देव्या वासवदत्तायाश्चित्तखेदं परिहरता यदा न दत्ता–

यौगन्धरायण–(हाथ जोड़कर) महाराज, सुनिये। इस सिंहल के अधिपति की पुत्री के विषय में सिद्धों ने कहा था कि जो इसका पाणि-ग्रहण करेगा वह चक्रवर्ती राजा होगा। तब उस (सिद्ध के वचन) के विश्वास से हमारे द्वारा स्वामी के लिये अनेक बार याचना किये जाते हुए भी देवी वासवदत्ता के चित्त के खेद को बचाते हुए सिंहल के अधिपति ने जब वह न दी–

राजा—तदा किम्।

राजा—तब क्या हुआ?

यौगन्धरायण—तदा लावाणकेन वह्निना देवी दग्धेति प्रसिद्धिमुत्पाद्य तदन्तिकं बाभ्रव्यः प्रहितः।

यौगन्धरायण—तब लावाणक में लगी आग से देवी जल गई, यह अफवाह उड़ाकर उसके समीप बाभ्रव्य भेजा।

राजा—ततः परं श्रुतं मया। अथेयं देवीहस्ते किमनुचिन्त्य स्थापिता।

राजा—उसके बाद की बात मैंने सुन ली है। लेकिन इसे देवी के हाथ में क्या सोचकर रखा?

विदूषकः—भो अणाचक्खिदं वि एदं जाणीअदि एव्व जधा अन्तेउरगदा सुहेण दे दंसणपधं गमिस्सदि त्ति। (भोः, अनाख्यातमप्येतज्ज्ञायत एव यथान्तः पुरगता सुखेन ते दर्शनपथं गमिष्यतीति।)

विदूषक—अरे, यह तो बिना कहे भी समझा जा सकता है कि अन्तःपुर में गई हुई यह आसानी से तुम्हारे दृष्टिपथ में आ जायेगी।

राजा—(विहस्य) यौगन्धरायण, ग्रहीतस्तेऽभिप्रायो वसन्तकेन।

राजा—(हँसकर) यौगन्धरायण, वसन्तक ने तुम्हारा अभिप्राय समझ लिया।

यौगन्धरायण—यदाज्ञापयति देवः।

यौगन्धरायण—जो महाराज कह रहे हैं, ठीक है।

राजा—ऐन्द्रजालिकवृत्तान्तोऽपि मन्ये त्वत्प्रयोग एव।

राजा—मैं समझता हूँ कि ऐन्द्रजालिक की घटना भी तुम्हारा ही प्रयोग था।

यौगन्धरायण—देव, एवम्। अन्यथाऽन्तःपुरे बद्धाया अस्याः कुतो देवेन दर्शनम्। अदृष्टायाश्च वसुभूतिना कुतः परिज्ञानम्। (विहस्य) परिज्ञातायाश्च भगिन्याः संप्रति यथा करणीयं तत्र देवी प्रमाणम्।

यौगन्धरायण—देव ऐसा ही है। नहीं तो अन्तःपुर में बंधी हुई इसका देव को कहाँ से देशन होता? और बिना देखी हुई को वसुभूति कहाँ से पहचानता? (हँसकर) अब पहचान ली गई बहिन के प्रति जैसा करना हो, उसमें देवी को अधिकार है।

वासवदत्ता—(सस्मितम्) अज्ज, फुडं एव्व किं ण भणासि जधा पडिवादेहि से रअणावलीं त्ति। (आर्य, स्फुटमेव किं न भणसि यथा प्रतिपादयास्मै रत्नावलीमिति।)

वासवदत्ता—(मुस्कराहट के साथ) आर्य, स्पष्ट ही क्यों नहीं कहते कि रत्नावली को इसे महाराज को दे दो।

विदूषकः—भोदि सुट्ठु तुए जाणिदो अमच्चस्स अभिप्पाओ। (भवति, सुष्ठु त्वया ज्ञातोऽमात्यस्याऽभिप्रायः।)

विदूषक—आदरणीय, आपने मन्त्री का अभिप्राय ठीक समझ लिया।

वासवदत्ता—(हस्तं प्रसार्य) एहि रअणावलि, एहि, एत्तिअं वि दाव में बहिणिआणुरूवं भोदु। (इति रत्नावली स्वकीयैराभरणैलङ्कृत्य हस्ते गृहीत्वा राजानमुपसृत्य) अज्जउत्त, पडिच्छ एदं। (एहि, रत्नावलि, एहि। एतावदपि तावन्मे भगनिकानुरूपं भवतु। आर्यपुत्र, प्रतीच्छैनाम्।)

वासवदत्ता—(हाथ फैलाकर) आओ, रत्नावली, आओ। इतना भर तो मेरा आचरण बहिन के योग्य हो जाय। (रत्नावली को अपने आभूषणों से अलंकृत करके, हाथ पकड़कर राजा के समीप जाकर) आर्यपुत्र, इसे स्वीकार कीजिये।

राजा–(सपरितोषं हस्तौ प्रसार्य) को देव्याः प्रसादो न बहु मन्यते।

राजा–(सन्तोष के साथ दोनों हाथ फैलाकर) देवी के किस अनुग्रह को बहुत नहीं समझा जाता?

वासवदत्ता–अज्जउत्तु दूरे क्खु एदाए णादिकुलं। ता तधा करेहि उधा बन्धुजणं ण सुमरेदि। (इति समर्पयति)। (आर्यपुत्र, दूरे खल्वेतस्या ज्ञातिकुलम्। तत्तथा कुरु यथा बन्धुजनं न स्मरति।)

वासवदत्ता–आर्यपुत्र, इसका पीहर बहुत दूर है। इसलिये ऐसा कीजिये कि यह अपने बन्धुजनों को गाद न करे। (यह कहकर देती है)।

राजा–यथाऽऽज्ञापयति देवी। (रत्नावलीं गृह्णाति)।

राजा–जैसे देवी आज्ञा दें। (रत्नावली को पकड़ता है)।

विदूषक–(नृत्यन्) ही ही भो पुहवो क्खु दाणिं हत्थगदा पिअवअस्सस्स। (ही ही भोः पृथ्वी खल्विदानीं हस्तगता प्रियवयस्यस्य।)

विदूषक–(नाचता हुआ) आ हा हा! अरे अब तो पृथ्वी प्रिय मित्र के हाथ में आगई।

वसुभूति–आयुष्मति, स्थाने देवीशब्दमुद्वहसि।

वसुभूति–आयुष्मति, तुम उचित ही 'देवी' पद को धारण कर रही हो।

यौगन्धरायण–इदानीं सफलपरिश्रमोऽस्मि संवृत्तः। देव, तदुच्यतां किं ते भूयः प्रियं करोमि।

यौगन्धरायण–अब मैं सफल परिश्रमी हो गया हूँ। महाराज, तब कहिये कि आपका और क्या प्रिय करूँ?

राजा–किमतः परमपि प्रियमस्ति। यतः

नीतो विक्रमबाहुरात्मसमतां प्राप्तेयमुर्वीतले
सारं सागरिका ससागरमही प्राप्त्येकहेतुः प्रिया।
देवी प्रीतिमुपागता च भगिनीलाभाज्जिताः कोसलाः
किं नास्ति त्वयि सत्यमात्यवृषभे यस्मै करोमि स्पृहाम्॥21॥

राजा – इससे अधिक प्रिय क्या है? क्योंकि–

विक्रमबाहु अपने जैसा (आत्मीय) कर दिया, पृथ्वीतल की सारभूत, सागर समेत सम्पूर्ण पृथ्वी की प्राप्ति की एकमात्र कारणभूत यह प्रिया सागरिका पा ली, बहिन के मिल जाने से देवी (वासवदत्ता) सन्तुष्ट हो गई और कोसलदेश जीत लिया। तुम श्रेष्ठ मन्त्री के होने पर क्या (अभीष्ट वस्तु) नहीं है, जिसकी मैं इच्छा करूँ?॥21॥

तथापीदमस्तु = फिर भी यह हो जाए–

भरतवाक्यम् = भरत वाक्य––

उर्वीमुद्दामसस्यां जनयतु विसृजन् वासवो वृष्टिमिष्टा-
मिष्टैस्त्रैविष्टपानां विदधतु विधिवत्प्रीणनं विप्रमुख्याः।
आकलपान्तं च भूयात्समुपचितमुखः संगमः सज्जनानां
निःशेषं यान्तु शान्तिं पिशुनजनगिरो दुर्जया वज्रलेपाः॥22॥

अभिलषित वर्षा करता हुआ इन्द्र पृथ्वी को समृद्ध धान्य वाली बनावे। श्रेष्ठ ब्राह्मण विधिपूर्वक यज्ञों द्वारा देवों को प्रसन्न करें। सुख की वृद्धि करने वाला सज्जनों का समागम प्रलयकाल पर्यन्त बना रहे। दुर्जय और वज्र के समान चुभने वाले दुर्जनों के वचन पूर्णरूप से शान्ति को प्राप्त होवें॥22॥

इष्टै:–यज् + क्त (भावे)।

दुर्जया:–दुर् + जि + खल् (अ)

इस श्लोक में स्रग्धारा छन्द है।

(इति निष्क्रान्ता: सर्वे) (सब निकल जाते हैं)

इत्यैन्द्रजालिको नाम चतुर्थोऽङ्कः–ऐन्द्रजालिक नाम का चतुर्थ अङ्क समाप्त

इति श्रीहर्षदेवस्य कृतिः समाप्तेयं रत्नावली नाम नाटिका॥

7.4 पारिभाषिक शब्दावली

दुर्लक्ष्यम्–दुर + लक्ष् + ण्यत् (य) –जिसे भेदना कठिन है।

विभावना - विभावना विना है तो कायोत्पत्ति युर्दुच्यते

जहाँ विना कारण के कार्य की उत्पत्ति परिलक्षित हो वहाँ विभावना अलंकार होता है।

निर्वापय–निर + वा + णिच्। किसी वस्तु को हटाने हेतु प्रयुक्त पद।

देव देवो दानाद्वा द्योतानाद्वा दिपनाद्वा

देव से आशय है दान से, प्रकाशित करने से, दीप्त होने से

इंद्रजाल - संस्कृत नाटय शास्त्र में जादू को इंद्रजाल कहते है। तथा जादूगर को ऐन्द्रजालिक कहा जाता है।

लाणावक - यह एक गाँव है जहाँ यौगन्धरायण वासवदत्ता में जलने का प्रवाद फैलाया था।

7.5 अभ्यासार्थ प्रश्न

बोधगम्य प्रश्न

अधोलिखित श्लोकों का ससन्दर्भ अनुवाद करते हुए तत्सम्बन्धी व्याकरणात्मक टिप्पणी प्रस्तुत कीजिये–

1. संतापो हृदय स्मरानलकृत: संप्रत्ययं सह्यतां
   नास्त्येवोपशमोऽस्य तां प्रति पुन: किं त्वं मुधा ताम्यसि।
   यन्मूढेन मया तदा कथमपि प्राप्तो गृहीत्वा चिरं विन्यस्तस्त्वयि
   सान्द्रचन्दनरसस्पर्शो न तस्या: कर:॥3.1॥

2. मनश्चलं प्रकृत्यैव दुर्लक्ष्यं च तथापि मे।
   कामेनैतत्कथं विद्धं समं सर्वै: शिलीमुखै:॥3.2॥

3. ह्रिया सर्वस्यासौ हरति विदितास्मीति वदनं
   द्वयोर्दृष्ट्वाऽऽलापं कलयति कथामात्मविषयाम्।
   सखीषु स्मेरासु प्रकटयति वैलक्ष्यमधिकं प्रिया
   प्रायेणास्ते हृदयनिहितातङ्कविधुरा॥3.4॥

4. पुर: पूर्वामेव स्थगयति ततोऽन्यामपि दिशं
   क्रमात्क्रामन्नद्रिद्रुमपुरविभागांस्तिरयति।
   उपेत: पीनत्वं तदनु भुवनस्येक्षणफलं तम:
   संघातोऽयं हरति हरकण्ठद्युतिहर:॥3.7॥।

5. शीतांशुर्मुखलुत्पले तव दृशौ पद्मानुकारौ करौ
   रम्भागर्भनिभं तथोरुथुगलं बाहू मृणालोपमो।

इत्याह्लादकराखिलाङ्गि रभसान्नि: शङ्कमालिङ्ग्य
मामङ्गानि त्वमनङ्गतापविधुराण्येह्येहि निर्वापय ॥3.11 ॥

6. आरुह्य शैलशिखरं त्वद्दनापहृतकान्तिसर्वस्व:।
प्रतिकर्तुमिवोर्ध्वकर: स्थित: पुरस्तान्निशानाथ:॥3.12 ॥

7. आताम्रतामपनयामि विलक्ष एष लाक्षाकृतां चरणयोस्तव देवि मूर्ध्ना।
कोपोपरागजनितां तु मुखेन्दुबिम्बे हेर्तु क्षमो यदि परं करुणा मयि स्याम् ॥3.14 ॥

7.6 सारांश

प्रस्तुत इकाई में रत्नावली नाटिका के तृतीय तथा चतुर्थ अंक का विधिवत अध्ययन किया जायेगा। तृतीय अंक इस नाटिका का हृदय है तथा कवि की मौलिक सूझ का उज्ज्वल उदाहरण है। सागरिका वासवदत्ता का तथा सुसंगता दासी काञ्चनमाला का वेष धारण कर राजा से पूर्व निश्चय के अनुसार मिलने आती है, परन्तु असली वासवदत्ता के इनसे पहले ही आ जाने के कारण सारा स्वरूप बिगड़ जाता है। चतुर्थ अंक में जादूगर के अग्निदाह का प्रभावशाली दृश्य है। सागरिका भूगर्भ में कैदकर रखी गयी है। वह वहाँ से बचाकर सभा में लाई जाती है जहाँ उसके पिता के मन्त्री वसुभूति तथा कंचुकी वाभ्रव्य उसे विदूषक के गले में लटकने वाली %रत्नावली की सहायता से पहचानते हैं तथा वासवदत्ता स्वयं प्रसन्न होकर अपनी भगिनीभूता रत्नावली से राजा का विवाह करा देती है। यही इस रत्नावली नाटिका का मंगलमय अवसान है जो इस इकाई में प्रस्तुत किया गया है ।

7.7 संदर्भ ग्रन्थ सूची

1. रत्नावली, किरणावली संस्कृतहिन्दी व्याख्योपेत, पं. राजेश्वरशास्त्री मुसलगांवकर,चौखम्भा संस्कृत प्रतिष्ठान, वाराणसी, 2004.
2. रत्नावली,शिवराज शास्त्री, साहित्य भण्डार, मेरठ, 1994.
3. संस्कृत के प्रमुख नाटककार तथा उनकी कृतियाँ, डॉ. गंगासागर राय, चौखम्भा संस्कृत भवन दिल्ली, 2001.
4. संस्कृत सुकवि समीक्षा,पं. बलदेव उपाध्याय, चौखम्भा विद्या भवन, वाराणसी, 1963.
5. संस्कृत साहित्य का इतिहास,पं. बलदेव उपाध्याय,शारदा प्रकाशन, वाराणसी, 1995.